सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्तों एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

मलौड़ी-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 54 : अंक : 11-12
फरवरी मार्च 2022

प्रकाशन तिथि : 01.02.2022

मूल्य – एक प्रति : 20/–, द्विवार्षिक : 400/-

अमृत-कण

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/3)

अर्थात् तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम कुमारी भी हो और तुम्हीं दण्ड का सहारा लिये हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम्हीं हो।

◆ ◆ ◆

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

(गीता 6/29)

अर्थात् सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

◆ ◆ ◆

यद्यत् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।

(गीता 10/41)

मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ, मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।

◆ ◆ ◆

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ट गिरेवि। उर्ध्वपवित्रो वाजिनीव
स्वस्मृतमस्मि। दविणों सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः।

(तै उपनिषद् 1/10)

मैं (संसार रूप) वृक्ष को हिलाने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के सदृश है। मैं वह हूँ जिसके ज्ञान का पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है, मानो सूर्य में है। मैं सुमेधा हूँ, अमृत हूँ, क्षीण न होने वाला।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते—करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 54 फरवरी-मार्च 2022 अंक : 11-12

अग्ने ! नय सुपथा राये

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयो ध्यस्मज्जुहुराहुराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम।।

अर्थात् - हे अग्निदेव ! मेरे सर्वज्ञ भगवान् ! हमें अपना ऐश्वर्य देने के लिए सुपथ से ले चलो ! आप उन समस्त कर्मों तथा प्रणीतियों को जानते हैं जिन पर चलने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है। हमारे अन्दर से कुटिलता रूप पाप को हटा दो जिससे हम बार-बार आपके चरणों में प्रणत हो सकें आपका सामीप्य प्राप्त कर सकें।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख– योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	5
3.	श्रीमद्भागवत् में योग–परिचर्चा– डॉ. विजय सिंह	8
4.	मन को कैसे संतुलित करें ?–श्री स्वामी विवेकानन्द	11
5.	चित्त की प्रसनता के साधन– श्रीमती सरिता भारद्वाज	13
6.	योग एवं गुरुदेव– श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री	18
7.	योग और प्रारब्ध भोग– आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	23
8.	शुभ सूचना	28
9.	क्लिष्ट संस्कार का सूक्ष्म भुगतान– केशव देव उपाध्याय	29
10.	सिद्धयोग– स्वामी पुरूषोतम	33
11.	जड़ी–बूटी चिकित्सा: युग की आवश्यकता– पं. लीलापत शर्मा	35
12.	ओंकार रूप में ब्रह्म–चिन्तन– श्री बालमुकुन्द	38

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 215.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1200.00

हमारा विशेष लेख–

योगिक साधना का महत्व

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार में एक लोकोक्ति है और वह यह कि " **मनुष्यो देवानाम् पशुः** " अर्थात् मनुष्य हमेशा देवताओं का पशु रहता है। जिस प्रकार से मनुष्य लोक में गधा, घोड़ा, खच्चर, भैंस, बैल, गाय आदि हम लोगों के अधीन हमारे पशु हैं, ठीक इसी ही प्रकार से हम लोग भी देवताओं के अधीन रहने वाले देवताओं के पशु हैं। इसका कारण केवल मात्र एक ही है और वह यह कि देवताओं के अन्दर मनुष्य लोक की अपेक्षा शक्ति का बाहुल्य है, उस शक्ति के प्रभाव से देवता लोग मनुष्यों पर अपना अनुशासन रखते हैं। देवलोक में देवताओं के स्वतः सिद्ध कुछ विशेष विशेष अधिकार रहते हैं। जिस प्रकार से मनुष्य लोक में पक्षियों को आकाश में उड़ने का जन्म–सिद्ध अधिकार है एवं जल में रहने वाले प्राणी मछली कूर्म आदि को जल में रहकर सांस लेने की शक्ति स्वतः प्राप्त है यह उनको ईश्वरीय दैन हैं, उनको जल में स्वांस लेने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि मनुष्य जल में जाएगा तो उसको जल में रहकर स्वांस लेने के लिए नासिका में स्वांस नली आदि लगाकर कोई विशेष प्रयत्न करना ही पड़ेगा। जो मनुष्य स्थल में पैदल चलकर के कहीं की यात्रा करता है तो उसको वह मार्ग तय करने के लिए काफी समय लगता है किन्तु रिक्शा, तांगा, मोटर गाड़ी आदि से जाता है तो उसको उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत अपनी यात्रा पूरी करने में कम समय लगेगा और कदाचित वायुयान का मार्गव्यय दे देने पर बहुत ही कम समय लगेगा। और वायुयान में चलने वाले विशेषाधिकारियों से खानपान आदि का विशेष सम्मान भी अवश्य–अवश्य प्राप्त करेगा ही। ठीक इस ही प्रकार से मनुष्यलोक का जो भी प्राणी यज्ञ दान तप आदि पुण्य कर्म के करने से स्वर्ग लोक को चला जाता है तो वहां पर जाने पर उस लोक में जो विशेष प्रकार के अधिकार वहाँ के लोगों को प्राप्त रहा करते हैं वह उसको भी जैसे के तैसे प्राप्त हो जाया करते हैं। कठोपनिषद में वाजश्रवा ऋषि के पुत्र ने यमराज से स्वर्ग आदि का उपदेश करने की प्रार्थना की है। उसने स्वर्ग लोक को क्यों चाहा उसका विशेष कारण बतलाते हुए स्वर्ग लोक की विशेषता को इस प्रकार से बतलाया है :–

स्वर्गे लोके न भयं किंच नास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति।

उभे तीर्त्वाशनाया पिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके।।

अर्थात् स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं होता और यमराज वहां उपस्थित नहीं होता। इसके अतिरिक्त देवता लोगों को कभी वार्धक्य नहीं आता। मनुष्य लोक में हर मनुष्य को प्रत्युत जीव मात्र को हर समय भूख और प्यास आदि सताया करती है। और '**बुभुक्षितः किन्नकरोति पापं** ' अर्थात् भूखा मनुष्य अपनी भूख को हटाने के लिए क्या–क्या पाप नहीं करता। पेट पूर्ति के लिए उसको जो भी कुछ करना पड़ता है, वह हर प्रकार के प्रयत्न करता ही है। किन्तु स्वर्ग लोक की यह विशेषता है कि वहां पर मनुष्य को भूख प्यास नहीं सताती। सब प्रकार से रोग

शोक से दूर रहता हुआ स्वर्ग लोक में सदा प्रसन्न रहता है। इसके अतिरिक्त जब जहां तक का दृश्य वह देखना चाहता है, उतनी दूर तक का वह देख लेता है। जहां तक जिन–जिन लोकों की बातें वह सुनना चाहता है वह सुन लेता है इसी प्रकार वह है जिसको छूना चाहता है लाखों करोड़ों कोस की दूरी होने पर भी छू सकता है। जहां जाना चाहे वहां चिन्तन मात्र से तत्काल जा सकता है। अन्तर्धान हो सकता है और प्रगट हो सकता है। चाहे जिस किसी को जो चाहे वरदान व शाप आदि भी दे सकता है। यह सभी प्रकार की शक्तियां देवताओं के अन्दर स्वतः सिद्ध रहती है। केवल मात्र मनुष्य किसी भी प्रकार से यज्ञ दान तप आदि कर्म करता हुआ वहां पहुँच जाय तो यह सभी की सभी ताकतें वहाँ पर पहुँचने मात्र से ही जीवों को स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मनुष्य लोक में कोई मनुष्य बहुत काफी प्रयत्न करता है मंत्र तंत्र आदि सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है, अथवा योगध्यान एवं समाधी के द्वारा बहुत ही पुरुषार्थ करने पर इन शक्तियों को प्राप्त कर पाता है तब वह कुछ शक्ति वाला बन पाता है। अन्यथा '**मनुष्यो देवानाम् पशुः** 'की उक्ति के अनुसार मनुष्य सदा सर्वदा ही पशुवत् देवताओं के अधीन रहा करता है क्योंकि देवता लोग शक्ति वाले हैं और मनुष्य बिल्कुल ही शक्ति रहित हैं। इसलिए उसको अपनी कामना पूर्ति के लिए शक्ति वालों की शरण लेनी ही पड़ती है। शक्ति वालों की आराधनायें कर–करके मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले साधारण जीव रावण वाणासुर आदि के उदाहरण पर्याप्त हैं। जिन–जिन ने आराधनायें की उन–उन ने देवता लोगों से विशेष–विशेष वरदान प्राप्त करके अपने आप को धन बल वैभव आदि में सफल मनोरथ बना लिया। किन्तु इन सब की दशा तो वही रही जो दशा एक भिखारी की हुआ करती है। भिखारी के पास न कोई धन है, न कोई बल है और न कोई वैभव है। किन्तु उसका व्यापार केवल मात्र भीख मांगने तक सीमित है। भीख मांग–मांग करके चाहे वह लाखों करोड़ों रुपए भी जमा करले पर वह सब का सब ऐश्वर्य उसका अपना नहीं है। उसने तो ऐश्वर्य वालों से भीख मांग–मांग करके पैसा इकट्ठा किया है। कदाचित भिखारी के किसी व्यवहार से यह लोग किसी भी प्रकार से असन्तुष्ट हो जायें तो उसे कोई भी पाई–पैसा नहीं देंगे। और वह प्राप्त वैभव के खत्म हो जाने पर जैसे का तैसा भिखारी का भिखारी ही रह जाएगा। इसलिए योगियों ने इन सब बातों को समझ कर के अपने विशेष अन्वेषण के आधार पर योग विद्या को अपनाया और अपनी शक्ति के आप मालिक बने। उनको किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। '**अदीनाः श्याम शरदः शतम्**' के पाठ को पढ़ा और अपनी योग मार्ग की साधना के अनुसार अपने आप को सशक्त बना लिया। जिसमें शक्ति है वही मणुष्य दीनता की जजीरों से छूट सकता है और शक्ति प्राप्ति के केवल मात्र दो ही उपाय हैं कि एक तो शक्ति वालो से शक्ति प्राप्त करने के लिए उनकी उचित वन्दना करता रहे। दूसरा यौगिक साधनाओं के द्वारा कुँडलिनी महाशक्ति का उद्‌बोधन करके अपने आपको शक्तिवान बनाले– यही योगियों का सुगममार्ग है, जिससे योगी लोग अपनी यौगिक साधना के उत्तम परिणाम को प्राप्त कर लिया करते हैं। इसलिए सिद्धयोग के पाठकों को चाहिए कि वे अपनी यौगिक साधनाओं को अपनाएँ और दीनता के बन्धनों से छूट कर अपने मनुष्य जन्म को सफल कर डालें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुःख भाग्भवेत्।।

सम्पादकीय–

सिद्धयोग– हमारी प्यारी पत्रिका

आचार्य (डा०) रामलाल शर्मा

प्रिय पाठकगण / गुरु भाई–बहिन,

जय गुरुदेव की !

क्षण–क्षण स्मरणीय गुरुदेव योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के संकल्प से प्रकट कल्पवृक्ष के रूप में हमारी पत्रिका '**सिद्धयोग**' अपनी आयु के 53 वर्ष पूरा करके अप्रेल विशेषांक के साथ ही 54वें वर्ष में प्रवेश कर जाएगी। श्री गुरुदेव भगवान ने इस पावन वृक्ष का आरोपण सन 1968 में किया था, जिसका एकमात्र लक्ष्य था कि योग जिज्ञासु इसके माध्यम से योग तत्त्व व सिद्धान्त को समझ लें जिससे योग मार्ग पर चलकर आध्यात्मिक उन्नति के चरम लक्ष्य की ओर वे चल सकें। आज के इस विकासशील युग में भौतिक उन्नति के साथ–साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जागरूकता आ गयी है। इसी क्रम में धार्मिक व आध्यात्मिक पत्र–पत्रिकाओं का भी समाज में व्यापक प्रचार कार्य चल रहा है। किन्तु 'सिद्धयोग' जिस प्रकार से योग के सैद्धान्तिक दुरुह व दुर्बोध्य पक्ष को अत्यन्त सरल भाषा में बोधगम्य बना देती है ऐसा दूसरी पत्रिकाओं में देखने को नहीं मिलता।

'**सिद्धयोग**' गुरुदेव से सम्पर्क बनाये रखने का सक्षम माध्यम रही है। साधक घर बैठे ही गुरुदेव के उपदेश एवं आज्ञाओं का संकेत पा जाया करते हैं। पत्रिका के माध्यम से भी गुरुदेव की आत्मिक शक्ति का संचार शिष्यों में होता रहता है। साधकों के मन में उठने वाले संशयों का निवारण भी इससे हो जाता है।

वेदान्त प्रक्रिया में आत्म दर्शन की ओर चलने के साधन के रूप में तीन अंगों का वर्णन किया गया है। वेदान्त का सिद्धान्त है– **आत्मा व अरेद्रष्टव्यः, श्रोतव्यः मनतव्यः निदिध्यासितव्यः**। अर्थात् आत्मा का दर्शन करना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम श्री गुरुदेव के मुख से आत्म तत्त्व के विषय में श्रवण करना चाहिए। श्रवण करने के पश्चात् मनन करना चाहिए। ठीक प्रकार से मनन हो जाने पर निदिध्यासन में बैठना चाहिए। निदिध्यासन ही योग की भाषा में ध्यान–योग का अभ्यास कहलाता है। श्री गुरुदेव जब शिष्य को उपदेश करते हैं तो शब्दके माध्यम से शिष्य पर शक्ति संचार होता है। योग के ग्रंथों में शक्तिपात की अनेक प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन मिलता है। इनमें संकल्प दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, दृग दीक्षा, हार्द दीक्षा आदि दीक्षाओं का वर्णन मिलता है। गुरुदेव दीक्षा दान के समय गुरुमंत्र के माध्यम से शिष्य के दाहिने कर्ण में शक्ति का संचार करते हैं। आनन्दकन्द श्री गुरुदेव भगवान् ने सिद्धयोग परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। सिद्धयोग के पठन से कोई भी योग जिज्ञासु योग की परिभाषा, स्वरूप, विधि एवं लक्ष्य समझ सकता है। श्रद्धालु साधकों में सिद्धयोग के माध्यम से ही गुरुदेव के दर्शन एवं कृपालाभ होते देखा गया है। जीवन से परेशान कई व्यक्तियों को सन्मार्ग मिला और जीवन की

धारा ही बदल गयी। पत्रिका के पठन–पाठन एवं अनुशीलन से उत्साह, उल्लास एवं मार्गदर्शन मिलता है। योग शास्त्र अत्यन्त गहन है, इसके दुरूह विषयों को समझना बहुत कठिन है, किन्तु सिद्धयोग ने इसे अत्यन्त सरल एवं सुबोध्य बनाया है। पत्रिका का अध्ययन साधक के अन्दर श्रद्धा का बीज बो देता है। जिसे योग साधना की नींव माना गया है। जिसमें सम्यक् श्रद्धा नहीं है, वह विनष्ट हो जाता है। भगवान के गीता में वचन हैं – " **संशयात्मा विनश्यति** " अर्थात् संशय युक्त व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर पतन की ओर चला जाता है। इसलिए **"सिद्धयोग"** श्रद्धा एवं स्वाध्याय का अचूक साधन है। साधक को स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। गुरुदेव अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहते हैं कि– **स्वाध्यायाद् मा प्रमदितव्यम्** अर्थात् स्वाध्याय में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए। गुरुमंत्र का जाप भी उत्तम श्रेणी का स्वाध्याय है, इसमें प्रमाद या लापरवाही नहीं करनी चाहिए। अस्तु।

पत्रिका के लिए, गुरुदेव के समय से ही, किसी प्रकार की विज्ञापन आदि सामग्री प्रकाशनार्थ स्वीकार कर वित्तीय आय जुटाने अथवा सहायता प्राप्त करने का उद्देश्य नही रहा है, वह आज भी यथावत् है। 25–30 हजार रुपये का वार्षिक घाटा सहन करके भी पत्रिका अबाध गति से प्रकाशित हो रही है, यह सब पूज्य गुरुदेव जी की कृपा का ही फल है। उदारमना गुरुभाई–बहिनों के आर्थिक सहयोग से घाटे की पूर्ति हो जाती है।

अन्त में, मैं उन सभी मनीषी विद्वान लेखकों एवं रचनाकार कवियों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनके उत्कृष्ट योगपरक लेख एवं सारगर्भित रचनाओं से पत्रिका की महत्ता व शोभा बनी हुई है। मैं उनसे इसी प्रकार अपनी रचनायें, लेखादि निरन्तर भेजते रहकर स्नेह भाव बनाये रखने का नम्र अनुरोध करता हूँ। पत्रिका के पाठकों व ग्राहकों से भी निवेदन करूंगा कि वे नियमित ग्राहक बने रहें तथा कम से कम 5 नये सदस्य अवश्य जोड़ें। इस दिशा में गंगापुर मण्डल, कानपुर मंडल व सहारनपुर मंडल के साधकों का प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है। इस अंक के साथ ही वार्षिक ग्राहकों का शुल्क समाप्त हो रहा है, अतः समय पर आगामी वर्ष के लिए शुल्क भेज दें। वार्षिक शुल्क रू. 215/– हो गया है तथा आजीवन शुल्क रु. रू. 1200/– हो गया है।

आप सभी के लिए आने वाला वर्ष मंगलमय हो।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का परम पावन प्राकट्य दिवस श्री रामनवमी योग महोत्सव के रूप में सँवाई आश्रम, आगरा में बड़े हर्षोल्लास व धूमधाम से मनाया जायेगा, सभी श्रद्धालु भक्त उसमें सम्मिलित होकर श्री प्रभुजी की कृपा कोर को पाकर जीवन को धन्य बना लें। इस अवसर पर श्री प्रभुजी के चरणों में सभी भक्तों का कोटि–कोटि नमन है।

श्री रामनवमी योग महोत्सव दिनांक 8,9,10 अप्रैल को मनाया जाना निश्चित हो चुका है।

सभी गुरु भक्तों को चाहिये कि श्री रामनवमी के पवित्र उत्स्व पर धाम पर पहुँचें तथा गुरुदेव की कृपा को प्राप्त करें। जो यह मानते हैं कि गुरुदेव तो हैं नहीं वहाँ जाकर क्या करेंगे यह उनकी महान भूल है। गुरुदेव की शक्ति तो अनवरत बरसती रहती है। गुरुदेव कहा करते थे कि श्री सिद्धगुफा से ही सारी दुनिया को योग का प्रकाश मिल रहा है। अतः सभी आश्रम की शाखाओं के संचालकों को चाहिये स्वयं भी आवें और अन्य गुरु भक्तों को भी पवित्र धाम के

दर्शन करावें ताकि योग ध्यान में उत्तरोत्तर उन्नति पा सकें। जीवन में यदि आत्म दर्शन पा लिया तो अत्युत्तम बात है अन्यथा '**महती विनष्टि**' महान संपात की बात है– बहुत बड़ी हानि की बात है। अत: आत्मदर्शन का लक्ष्य सामने रखते हुए '**कार्यम् वा साधेयम् देहं वा पातेयम्**' अर्थात् या तो आत्मसिद्धि रूप महान कार्य को सिद्ध करूँगा या मेरा देह पात हो जाए तब भी कोई चिन्ता न मानते हुए सतत् आत्म लाभ की ओर अग्रसर रहना चाहिए। भौतिक भोगवाद प्रपञ्च है अपने साथ धोखा है। अत: सत्य की प्राप्ति के लिए प्राणपण से लग जायें।

अन्त में, मैं उन सभी सुधी लेखक बन्धुओं, विद्वानों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिनके सुन्दर एवं योग परक लेखों के कारण पत्रिका की गरिमा व लोकप्रियता बनी हुई है। जो इसके ग्राहकों को प्रेरणा देकर उन्हें लाभ पहुँचा रहे हैं वे भी धन्यवाद के भागी हैं तथा स्तुत्य हैं।

जय गुरुदेव जी की।

आपका
डॉ. दासलाल योगाचार्य
सम्पादक– सिद्धयोग

आवश्यक सूचना

मार्च अंक के साथ ही साधकों का वार्षिक शुल्क समाप्त हो जाता है। अत: ग्राहकों को नये वर्ष के लिये मार्च 2022 तक अपने शुल्क कार्यलय में जमा कर देना चाहिये। पत्रिका का वार्षिक शुल्क 215 रू. हो गया है। द्विवार्षिक शुल्क 400रू. है और आजीवन शुल्क (10 वर्षीय) 1200रू. है। इसके साथ ही विद्वान लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ और आशा करता हूँ कि आगे भी योग परक सुन्दर लेख भेजते रहें। यही साधकों की गुरु दक्षिणी होगी। सभी को पत्रिका का ग्राहक बनना चाहिये। गुरुदेव से जुड़े रहना का यह सशक्त माध्यम है। स्वाध्याय पुण्य अर्जन का मुख्य साधनों में से एक है। अत: स्वाध्यायरत रहना चाहिये हर साधक को।

सम्पादक सिद्धयोग मासिक
श्री सिद्धगुफा, सवांई,
एत्मादपुर (आगरा)– 283202

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा-83

डॉ. विजय सिंह

पिछले लेख में योगीश्वर प्रबुद्ध जी ने भगवान को प्राप्त करने का उपाय सर्व सामान्य के लिये बताते हुये, सद्गुरु शरणापत्ति, शुचिता बाह्य और अभ्यंतर रखने को बताया है। वे कहते हैं, भागवत् शास्त्रों का श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय परन्तु अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना, प्राणायाम के द्वारा मन का नियंत्रण, मौन द्वारा वाणी का, वासनाहीनता के अभ्यास से कर्मों का संयम करना, सत्य बोलना आदि सीखना चाहिए।

भगवान के जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उनका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा अपनी सभी चेष्टाओं को भगवान के लिये करना सीखना चाहिये।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्म कर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।। 27।।

अ.3 स्कं.11

जिन संतों ने भगवान कृष्ण का अपने आत्मा और स्वामी के रूप में साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर जंगम सभी की सेवा, विशेष कर परोपकारी सज्जनों की तथा संतों की सेवा करना सीखे। प्रपंचों से दूर आध्यात्मिक शांति को अनुभव करे। जो इस प्रकार से अभ्यास करता है, उसे प्रेमाभक्ति प्राप्त होती है और वह नारायण के परायण होकर एक दिन अनायास माया को पार कर जाता है। राजा निमि ने पूछा– प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं। मुझे बताइये कि जिस परब्रह्म परमात्मा का 'नारायण' नाम से वर्णन किया जाता है, उनका स्वरूप क्या है ?

अब पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायन जी ने कहा – राजन ! जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण, उपादान–कारण दोनों ही है परन्तु स्वयं कारण रहित है। जो स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाओं में साक्षी रूप में विद्यमान रहता है तथा वही समाधि में भी एक रस ज्यों का त्यों रहता है। जिसकी सत्ता से सत्तावान होकर शरीर इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना–अपना काम करते हैं, उसी परम सत्य वस्तु को आप ' नारायण ' जानो। वास्तव में जितनी भी शक्तियाँ हैं, वह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म स्वरूप आत्मा न जन्म लेता है न मरता है। वह अविनाशी है। वह ज्ञान स्वरूप है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है। राजा निमि ने पूछा– योगीश्वरों ! अब हमें कर्मयोग का उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा मनुष्य निष्कामता को प्राप्त होकर कर्मफल निवृत्ति कराने वाला ज्ञान प्राप्त करता है।

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्।।4।।

अ.3 स्कं.11

एक बार यही प्रश्न ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ऋषियों से पूछा था। वे सर्वज्ञ होते हुये भी उत्तर नहीं दिये। इसका क्या कारण था?

अब छठे योगीश्वर अविर्होत्र जी ने कहा– राजन ! कर्म (शास्त्रानुसार), अकर्म (निषिद्ध, जिन्हें नहीं करना है) और विकर्म (विहित का उलंघन) इन्हें बड़े–बड़े विद्वान भी समझने में भूल कर बैठते हैं। तुम्हारे बचपन को देखते हुये, सनकादि ऋषियों ने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। वेद कर्मो के निवृत्ति हेतु कर्मो का विधान करता है। स्वर्गादि का प्रलोभन देकर श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त करता है। जिसका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, इन्द्रियाँ वश में नहीं है, वह विहित कर्मो का आचरण न करके विकर्मरूप अधर्म ही करता है। उसका जन्म–मरण चक्र चलता रहता है। राजन ! जो पुरुष चाहता है कि जल्दी से मेरे आत्मा की हृदय–ग्रंथि, मैं और मेरे की कल्पित गाँठ खुल जाए,उसे चाहिये कि वह वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों ही साधनाओं से भगवान की आराधना करे। इसके लिये सेवा द्वारा गुरुदेव को प्रसन्न कर दीक्षा प्राप्त करे, फिर उनके द्वारा अनुष्ठान की विधि सीखे। अपने को जिन भगवान की मूर्ति प्रिय लगती हो, उन्हीं की पूजा करे।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परमात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।। 47।।
लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः।।48।।

अ.3, स्कं.11

अपने–आपको भगवन्मय ध्यान करते हुये ही भगवान की मूर्ति का पूजन करना चाहिए। निर्माल्य को सिर पर धारण करे और श्रद्धा के साथ पूजा समाप्त करनी चाहिए। जो ऐसा कर्ता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम्।। 54।।

अ. 3, स्कं.11

स्कन्द ग्यारह के चौथे अध्याय में भगवान के अवतारों का वर्णन किया गया है।

राजा निमि ने पूछा– योगीश्वरो! आप लोग कृपा करके मुझसे भगवान की उन लीलाओं का वर्णन कीजिये, जो वे अब तक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे।

इस पर सातवें योगीश्वर द्रुमिल जी ने कहा– राजन! भगवान अनन्त हैं। पंच महाभूतों की रचना स्वयं से स्वयं में करके। ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें अपने अंश से प्रवेश करते हैं। तब उन आदि देव को नारायण कहते हैं। यही उनका पहला अवतार है। ब्रह्माण्ड उनका शरीर है, उसी में तीनों लोक स्थित है। उनके स्वरूप से ही स्वतः सिद्ध ज्ञान का संचार होता है। उनके रजोगुण के अंश से ब्रह्मा, सत्त्वांश से विष्णु, तमोगुण के अंश से संहार कर्ता रुद्र बने। आगे चलकर दक्ष की कन्या मूर्ति जो धर्म की पत्नि थीं। उनके गर्भ से ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायण रूप में अवतार लिया। उनके चरण कमलों की सेवा बड़े–बड़े ऋषि –मुनि करते हैं। वे आज भी

बदरिकाश्रम में विराजमान है। उनके तप से डरा इन्द्र तपस्या में विघ्न डालने हेतु कामदेव, वसंत एवं अप्सराओं को भेजा। वे सभी बदरिकाश्रम जाकर अपना सम्पूर्ण कौशल प्रकट किया और विफल होने पर शाप के डर से काँपने लगे। भगवान नारायण ने हँसते हुये कहा– कामदेव, बसंत और देवांगनाओं! तुम लोग डरो नहीं, हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। ऋषि प्रवर के बचन सुन कामदेव आदि के सिर लज्जा से झुक गये। वे बोले– प्रभो ! आप माया से परे निर्विकार हैं। आपके भक्त भी सारे विघ्नों के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं। अपने लक्ष्य से गिरते नहीं। इस प्रकार से स्तुति जब देवताओं ने की तब सर्वशक्तिमान भगवान ने अपने योगबल से बहुत सी वस्त्रालंकारों से सज्जित, रूप लावण्य से सम्पन्न, रमणियाँ जो सेवा परायण थी उत्पन्न किया। उनकी शोभा सौन्दर्य के सामने देवराज इन्द्र के अनुचरों का चेहरा फीका पड़ गया। वे उनके शरीर से निकलने वाली दिव्य गंध से मोहित हो गये। तब पुनः हँसते हुये भगवान् नारायण ने कहा– तुम लोग इनमें से किसी एक स्त्री को ग्रहण करो। वह तुम्हारे स्वर्ग लोक की शोभा बढ़ाने वाली होगी। जो आज्ञा ! कहकर भगवान द्वारा निर्मित अप्सरा उर्वसी को लेकर स्वर्ग लोक आये और इन्द्र को भगवान नर–नारायण के बल और प्रभाव का वर्णन किया। विदेह राज ! हंस, दत्तात्रेय, सनक–सनन्दन–सनातन–सनत्कुमार, ऋषभ आदि रूपों में अवतार लेकर आत्म साक्षात्कार के साधनों का उपदेश किया है। उन्होंने (भगवान ने) हय–ग्रीव अवतार ले मधु–कैटभ नाम के असुरों का संहार किया। प्रलय के समय मत्स्यावतार ले भावी मनु पृथ्वी एवं औषधियों की रक्षा किया। वाराह अवतार ले हिरण्याक्ष का संहार कर पृथ्वी का उद्धार किया। कूर्मावतार अमृत–मंथन के समय लिया।

एक समय वालखिल्य ऋषि गाय के खुर से बने गड्ढे में गिर गये तब भगवान ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। हिरण्यकशिपु के कारण संत प्रहलाद को जब भय पहुँचने लगा तब नृसिंहावतार ग्रहण किया। विभिन्न मन्वन्तरों में अपने कलावतार धारण कर प्रभु ! त्रिभुवन की रक्षा करते रहते हैं। बामन–अवतार में बलि से पृथ्वी को छीन कर देवताओं को दे दिया। परशुराम अवतार ग्रहण कर पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रीयहीन किया। रामावतार में समुद्र पर पुल बाँध रावण का संहार किया। यदुवंश में आगे भगवान् जन्म लेंगे और ऐसे कर्म करेंगे जो किसी भी देवता के लिये सम्भव नहीं होगा। आगे चलकर भगवान बुद्ध रूप में प्रकट हो तर्क– वितर्कों से लोगों को मोहित करेंगे। कलियुग के अन्त में कल्कि–अवतार लेकर शूद्र राजाओं का बध करेंगे। भगवान के अनेकों जन्म और कर्मों का महात्माओं ने गान किया है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

मन को कैसे संतुलित करें ?

श्री स्वामी विवेकानन्द

पवित्र बनने के लिए अपने कर्मों पर ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि पिछले जन्मों के विकर्मों का बीज मिटाना है, दूसरे यह ध्यान देना है कि अब कहीं विकारों के वश ऐसा कर्म न हो जाए कि जिससे विकर्म खाता और भी बढ़ जाए। मन में विकारों के तूफान आयेंगे अवश्य परन्तु आप कर्मेन्द्रियों से कोई विकर्म न होने दें। मन तब तक सीधा नहीं होगा जब तक कि कर्मों पर कन्ट्रोल नहीं करोगे। ऐसे मत समझो कि ज्ञान सुनते–सुनते मन अपने आप ही साफ होता जायेगा और विकार मिटते जायेंगे। नहीं–नहीं, कथा प्रवचन सुनते–सुनते तो द्वापर युग और कलियुग गुजर गये हैं परन्तु जीवन अभी भी नहीं बदला है। जब तक कर्मों पर पूरा ध्यान नहीं दोगे, तब तक मन ठीक नहीं होगा। मन पर तो पहले से ही पापों का बोझ चढ़ा हुआ है , अगर आप अब भी मन को बुरे कर्मों से थमायेंगे नहीं तो सत्य की शक्ति आएगी कैसे ? हमारे जीवन का क्षण–क्षण कर्मों के अनुसार ही तो चलता है। इसलिए कर्मों के विषय में सावधान होना तो बहुत जरूरी है। वरना मन अपने आप कैसे ठीक होगा ? जिन विकर्मों से मैल चढ़ा है, अगर वही विकर्म फिर भी करते रहोगे तो मैल उतरेगा कैसे ? कर्मों को पवित्र बनाना ही तो इस समय का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है।

बहाना व्यर्थ है ?

योग की कठिनाई का बहाना व्यर्थ है

आप देखेंगे कि मनुष्य हमेशा उसी काम को करता है जो सहज हो। वह कोशिश करता है कि कठिन काम भी किसी तरह सहज हो जाए। परन्तु आज लोगों ने यह गलत धारणा बना रखी है कि परमात्मा को याद करना, उसकी स्मृति में मन को स्थित करना बहुत ही कठिन है, उसके लिए हठ–क्रियाएँ करनी पड़ती हैं,उपवास करने पड़ते हैं, जंगलों में कन्द–मूल पर निर्वाह करना पड़ता है, आदि–आदि। साधु–सन्त भी प्रतिदिन उन्हें अपने व्याख्यान में यही कहते हैं कि मन बड़ा चंचल है इसलिए मनुष्य आज पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि मन चंचल, तो चंचल ही सही। वे कभी घण्टा–आधा–घण्टा परमात्मा की स्मृति में बैठते भी हैं तो उनके मन में आनन्द–रस की प्राप्ति नहीं होती। अत: वे आगे के लिए यत्न करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि– ' पता नहीं मन लगेगा भी या नहीं। अत: वे सोचते हैं कि आँखें बन्द करके दो सेकेण्ड ईश्वर के प्रति हाथ जोड़ देना ही काफी है। परन्तु उन दो मिनटों में भी उनका मन स्मृति में स्थिति का परम आनन्द लेने का सौभाग्य नहीं पाता। अब वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य की यह हालत उस परम–पिता का तथा अपना यथार्थ परिचय न होने के कारण, परमात्मा की स्मृति में एकतानता के बारे में साधुओं के झूठे कथनों के कारण और पुरुषार्थ–हीनता के भाव तथा आलस्य के स्वभाव के कारण ही है। जरा बताइऐं कि माँ अपने बच्चे को बोलना सिखाने के लिए

कितनी मेहनत करती है ?

फिर बच्चे को चलना तथा भाषा सिखाने में उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है ! तब कहीं उस मेहनत के फलस्वरूप वह बच्चा बड़ा होकर कोई स्पीकर (वक्ता), विचारक अथवा विद्वान् एवं गुणवान् व्यक्ति बन जाता है। यदि पहले उस पर मेहनत न होती तो वह गूँगा रह जाता और चलने के बजाय खिसक–खिसक कर बढ़ता। अत: लोग बच्चों के लिए तो कोशिश करते हैं कि उनका पूरा विकास हो। वे उसे किताबें भी खरीदकर देते हैं ताकि उसकी बुद्धि विकसित हो और वह अपने पाँव पर खड़ा हो सके। फिर वे यह भी ख्याल करते हैं कि उसे कमाई का भी कोई साधन प्राप्त हो। फिर उसको वे घर भी बनवा कर देते हैं, ताकि उसका कोई ठिकाना हो और वह दु:खी न हो। इस प्रकार बच्चे के जन्म के समय से लेकर उस पर कितनी मेहनत करनी पड़ती है ! परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इस मेहनत का हजारवाँ वा लाखवाँ हिस्सा भी मनुष्य अपने जीवन को सच्ची शान्ति एवं सुख से सरसाने के लिये नहीं लगाता, जिससे कि भविष्य में भी वह जन्म–जन्मान्तर के लिए स्वर्गिक सुख प्राप्त कर ले। इस पुरुषार्थ के लिए तो वह कहता है कि मेरे पास समय नहीं है अथवा कि इस कार्य में मेहनत करनी पड़ती है, परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मेहनत तो हर–एक कार्य के लिए करनी पड़ती है और मेहनत के बाद ही तो मीठा फल प्राप्त होता है और यह मेहनत तो अतुल फल देने वाली तथा अति सहज है, इससे तो मनुष्य सदा के लिए माला माल हो जाता है।

पुरुषार्थ करते–करते तो मनुष्य ने रॉकेट बना लिये हैं अथवा ऐटॉमिक शक्ति खोज डाली है। यह कहना कि परमात्मा को याद करना कठिन है। यह तो पुरुषार्थ हीनता तथा अज्ञानता की निशानी है। मनुष्य के जितने लौकिक सम्बन्धी आज हैं, उनसे यदि एक और ज्यादा होता तो क्या वह उसे याद नहीं कर सकता ? किसी माँ का यदि एक बच्चा और बढ़ जाता है तो क्या वह उसके लिए समय नहीं निकालती? अत: समय न मिलने या याद न कर सकने का बहाना झूठा है। जो लोग कहते रहते हैं कि – " मन चंचल है, वह टिकता नहीं है।" उन्हें सोचना चाहिए कि जब तक यह ज्ञान न हो कि मन को ठिकाना कहाँ है, वह टिकेगा कैसे ? इसलिए, हम कहते हैं कि बच्चों पर तो इतना ध्यान देते हो, उन पर धन भी खर्च करते हो परन्तु कुछ तो अपना भी भविष्य सुधार लो, ज्ञान प्राप्त करके मन की सच्ची शान्ति का उपाय भी कर लो।

चित्त की प्रसन्नता के साधन

श्रीमती सरिता भारद्वाज एम.ए.

प्रसन्नता ही जीवन का सबसे बड़ा धन है। अन्य सभी प्रकार के भौतिक धनों को प्राप्त करने के लिए बाहर से कुछ लाना पड़ता है और श्रम करना पड़ता है, किन्तु प्रसन्नता के लिए बाहर से कुछ लाना नहीं पड़ता। प्रसन्नता जीवन की सहजता है। बालक जब सहज होता है तब उसमें प्रसन्नता स्वाभाविक रूपसे आ जाती है। उस प्रसन्नता की अवस्था में बालक सुख–दुःख की द्वन्द्वात्मक स्थिति से परे एक अद्‌भुत आनन्द की स्थिति में होता है, जहाँ देश और काल दोनों समाप्त जैसे हो जाते हैं। प्रसन्न होने की स्थिति में मन अपने आप अन्तर्मुखी हो जाता है तथा एकाग्रता आ जाती है। प्रसन्नता की स्थिति में जो भी चिन्तन होता है वह व्यापक एवं सूक्ष्म सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक चिन्तन होता है। अवसाद के क्षणों या आलस्य के क्षणों का चिन्तन दूसरे को भी अवसादयुक्त बनाता है तथा उसकी व्याप्ति अल्प हुआ करती है। बालक का जीवन प्रसन्नता का सच्चा प्रतिरूप है। वह जब प्रसन्नता की स्थिति में होता है, तो अपने में रमण करता है। वह सच्चे अर्थों में गीता की " आत्मक्रीड " और " आत्मरति " की स्थिति में होता है। इस स्थिति में लाने के लिए योगाश्रम संवाई में जीवन–तत्त्व–साधन के अन्तर्गत बाल–मचलन और बालक का ध्यान ये दो क्रियायें विशेष रूप से कराई जाती हैं। इन दोनों क्रियाओं से शनैः–शनैः मन की पकड़ देश और काल से ढीली होती है और व्यक्ति सहज स्वभाव की ओर अग्रसर होता है जहाँ से आनन्द का स्त्रोत और झरना कल–कल करके बहता अनुभव होता है। जो अपने को बालरूप में अनुभव नहीं कर पाते वे प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर पाते। प्रसन्न चित्त महा पुरुष बच्चों के साथ अधिक निकटता से घुल–मिलकर खेलने लगते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपने ऊपर गम्भीरता और बड़प्पन का आवरण डाले रहते हैं वे कुण्ठाओं और आकांक्षाओं तथा चिन्ताओं के बोझ से दुःखी बने रहते हैं।

जो व्यक्ति प्रसन्न रहना नहीं जानता, वह दूसरों को कभी प्रसन्न नहीं कर सकता। कुछ लोग हर समय मुहर्रमी सूरत लिये रहते हैं और अपना मुँह लटकाये रहते हैं मानो सारे संसार का दुःख उन्हीं के हिस्से में आ गया दुःख भले ही दूसरे से और दूसरे कारणों से प्राप्त होने वाली भावदशा हो, किन्तु प्रसन्नता स्व विचारजन्य स्वाधीन भावदशा है। प्रायः देखा जाता है कि जितनी दुर्घटनाएँ या हानियाँ होती हैं वे चित्त की अवसाद युक्त स्थिति में कार्य करने पर होती है। प्रसन्न चित्त होकर कार्य करने पर सफलता ही सफलता है, इस रहस्य को बहुत कम लोग समझ पाते हैं। प्रसन्नता से किसी से बात करने पर दूसरे व्यक्ति के मन का दुःख दूर हो जाता है। उनके मन में भी सात्विक परिमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। प्रसन्नता की स्थिति में सर्वस्व त्याग की आत्मस्थ स्थिति है। प्रसन्नता की स्थिति में मोह, शोक और आसक्ति बंधन अपने आप शिथिल हो जाते हैं जिनका जीवन जितना सात्विक है, आहार–विहार जितना सात्विक है, वे उतने ही

अधिक प्रसन्न होते हैं। दुष्ट व्यक्ति भी प्रसन्न होते हैं लेकिन उनकी प्रसन्नता आन्तरिक न होकर बाह्य आलम्बन पर आश्रित होती हैं। वे किसी का अनिष्ट करके प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होते हैं तब जब देखते हैं कि दूसरा उनकी तुलना में कम है। दूसरे पर विपत्ति देखकर या किसी को हानि पहुँचाकर जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता नहीं होती, बल्कि असूया, मात्सर्य, मन्यु जैसे मनोविकार हैं। ऐसे व्यक्ति मनोरोगी होते हैं ; जो दूसरे को सुखी देखकर प्रसन्न होता है वही सच्ची प्रसन्नता है। जो दूसरे का दुःख दूर कर प्रसन्न हो सकता है वही सच्ची प्रसन्नता को पा सकता है। दूसरे से कोई वस्तु प्राप्त कर जितनी खुशी होती है उससे अधिक खुशी दूसरों को अपनी वस्तु देकर हो सके, तभी सच्ची प्रसन्नता का वरण हो सकता है।

दुःख की अपेक्षा प्रसन्नता अधिक संक्रामक है। दुःखी व्यक्ति जब रोता है तो उसे दुःख को अकेले ही अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जब प्रसन्न व्यक्ति हँसता है तब उसे देखकर सभी हँसने लगते हैं। प्रसन्नता में प्रसार है और मनहूसियत में दिल सिकुड़ता है। प्रसन्न रहने पर शरीर में ऑक्सीजन अधिक मात्रा में प्राप्त होता है तथा शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं। जबकि दुःखी व्यक्ति अनेकों रोगों और कठिनाइयों का निमन्त्रण देता है। जो व्यक्ति प्रतिदिन उन्मुक्त रूप से अट्टहास करता रहता है, वह बहुत कम बीमार होता है। हँसना एक प्रकार से फेफड़ों का व्यायाम है तथा आन्तरिक प्रसन्नता मन का व्यायाम है। योग साधना में ध्यान के लिए विभिन्न स्थितियों में अपने इष्ट का ध्यान, भिन्न–भिन्न आसन, वाहन,मुद्रा तथा वर्णायुध आभूषणयुक्त स्थिति में करने का विधान है। उसमें " **प्रसन्न वदनं ध्यायेत् सर्व विघ्नोपशान्तये** " विघ्नों की शान्ति के लिए इष्ट का ध्यान प्रसन्न भावमुद्रा में करने का विधान है। इष्ट का ध्यान आह्लाद युक्त होकर प्रसन्न मुद्रा में करते रहने पर मन के अन्दर आनन्द की सूक्ष्म तरंगें सक्रिय हो जाती हैं जो कि अनिष्ट कर्म विपाक को शीघ्र निःशेष कर देती हैं।

हमारे मन में यह गलत धारणा रहती है कि हम तब तक प्रसन्न नहीं रह सकते जब तक हमारे पास अमुक–अमुक वस्तुएँ न हों। जिनके पास सब कुछ है वे अधिक दुःखी और चिन्तित दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि उनकी इच्छाओं का जाल उतना ही बड़ा होता चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे मन और इन्द्रियों के भोग की मृग–तृष्णा में फँसकर दुःखी होते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अध्यात्मप्रसाद का अनुभव नहीं कर पाते, क्योंकि प्रसन्नता वस्तुओं में नहीं है, प्रसन्नता बहिर्मुखी वृत्ति में भी नहीं है, प्रसन्नता अन्तर्मुखी तथा एकाग्रता में है। यह स्थिति वस्तु निरपेक्ष है। जिनके पास प्रसन्नता रूपीधन है वे लँगोटी लगाये होने पर भी किसी शाहंशाह से अपने को कम नहीं समझते। स्वामी रामतीर्थ अपने को शाहंशाह समझते थे।

मन की प्रसन्नता का फल है 'सौम्यत्व'। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने मानस तप के अन्तर्गत प्रसन्न चित्त रहने का उपदेश दिया है। (16/16) प्रसन्न मन होने पर मन की चंचलता नष्ट हो जाती है। साधक के व्यवहार में प्रति पद पर प्रसन्नता, दया, करुणा, मैत्री, मुदिता आदि कोमल भावों के रूपमें परिलक्षित होती है, इससे भाव शोधन हो जाता है। प्रसन्नता जितनी गहरी उतरती जाती है उतनी ही संस्कार राशि क्षीण होती जाती है और व्युत्थान दशा में भी। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में आशावादिता,सुखानुभूति तथा थकावट का अभाव प्रतीत होने लगता है। प्रसन्नता का नशा व्यवहार दशा में उतरता नहीं। जैसे खिले हुए पुष्प की गंध चतुर्दिक व्याप्त होती है और दर्शकों को मनो मुग्धकारी हो जाती है। उसी प्रकार साधक के चित्त की

उसके जीवन को सद्‌गुणों की सुगंध से व्याप्त कर देती है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और शोक आदि सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्न चित्त साधक के जीवन में मौन और ईश्वर–प्रणिधान बिना बुलाये मेहमान की तरह स्वतः आ जाते हैं। गीता कहती है–

प्रसादे सर्व दुःखानाम्,

हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु,

बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

–गीता 2/65

अर्थात् जब मन राग–द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों को विषयों से लौटाकर उसी आत्मरूपी घर में बैठा दे। जिस प्रकार ग्वाला गायों को वन से लौटाकर गौशाला में ले जाता है। जब मन और इन्द्रियाँ आत्मा के वश में हो जाएँगी, तो साधक के जीवन में प्रसन्नता का अवतरण हो जायेगा। प्रसन्नता लाभ होने पर मन की चंचलता तथा भय, लोभ, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जाएँगे। जब तक मन चंचल रहता है तभी तक विषयों के पीछे घूमता रहता है। जैसे ही मन एकाग्र हुआ विषयों का साथ छूटने लगता है। मन निस्तरङ्ग भाव में हो जाता है। इस निस्तरङ्ग भाव का नाम ही संतोष है। निस्संकल्पता एवं निस्तरंगता से सारे दु:खों का नाश हो जाता है, फिर बुद्धि में नाना भावों की खिचड़ी नहीं पकती। बुद्धि आत्म–प्रतिबिम्ब का अनुभव करने लगती है तथा बुद्धि भी निर्वात दीपक की भाँति शान्त एवं निश्चल होकर आत्म–ज्ञान में निश्चयात्मिका हो जाती है। आत्म–बोध होने पर सब रस फीके लगने लगते हैं। सन्त तुलसी कहते हैं–

जो तोहि राम लागते नीके। तो षट्‌रस नवरस सब अनरस लगते फीके।

प्रसन्न मन ही निर्मल हो जाता है और निर्मल मन साधना में सिद्धि लाभ करता है –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

प्रसन्न चित्त आकाश के समान व्यापक एवं निर्मल हो जाता है। अतः साधक को चिदाकाश की धारणा करके चित्त को प्रसन्न बनाना चाहिए। ज्ञान संकलिनी तंत्र में ऐसा कहा गया है कि चंचल चित्त में माया–शक्ति निवास करती है और स्थिर चित्त में चिदाकाश, महाकाश में परमशिव निवास करते हैं।

चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिर चित्ते वसेच्छिवः।

प्रसन्नता सम्पादन का दूसरा उपाय है –

वर्तमान में जीना। प्रायः हम सभी लोग या तो बीते हुए भूतकाल में जीना चाहते हैं या भविष्यत् काल में। भूतकाल में जब हम जीने लगते हैं तो हमारी पकड़ वस्तुओं की ओर कड़ी हो जाती है और आसक्ति से हम घिर जाते हैं, जिससे उन अनचाही हुए और भोगी हुई वस्तुओं

और व्यक्तियों के अलग होने पर हमें स्मृतिजन्य दुःख होता रहता है। बीते हुए दिनों को याद कर हम आँसू बहा कर वर्तमान सुख को भी भूतकाल के दुःख से विसाक्त कर लेते हैं अथवा भविष्य के सुख–दुःख की आकांक्षा और कामना के हिंडोले में झूलते रहते हैं, जिससे अज्ञान तथा तज्जन्य मन की चंचलता हमें बहिर्मुखी बना देती है। ऐसे साधक को साधना में सिद्धि नहीं मिल पाती। जिसने प्रसन्न रहना नहीं सीखा वह गुरुदेव की प्रसन्नता या भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में अठारहवें अध्याय के 54 वें श्लोक में जीने का उपदेश देते हुए कहा है–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम्।।

–गीता 18/54

अर्थात् आत्माकार चित्तवृत्ति होने पर साधक प्रसन्न होकर अध्यात्म–प्रसाद से युक्त हो जाता है। फिर वह आत्मा से भिन्न किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता तथा किसी वस्तु के नष्ट होने पर पश्चात्ताप नहीं करता, क्योंकि उसे सर्वत्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और नजर ही नहीं आता। शोक सदा भूतकालिक होता है। शोक द्वैत में ही पैदा होता है। श्रुति भगवती कहती है कि –

तत्र का शोकः का मोहः एक त्वमनुपश्यतः।

जो सर्वत्र एक तत्वके दर्शन करता है, उसके लिए शोक और मोह का प्रसंग कहाँ आता है। उसकी दृष्टि किसी अन्य विषय पर जाती ही नहीं है। उसके लिए वर्तमान है सर्वत्र ब्रह्म। चराचर में एक अव्यक्त चेतन का दर्शन ही वर्तमान में जीना है, क्योंकि वह सत्ता इसी क्षण और इसी स्थान पर है– एक अनुभव ही वर्तमान भाव है।

" इदमस्तीतिलब्धकम् "

ईश्वर यहीं है और इसी क्षण है अतः अभी उसकी अनुभूति करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा से साधना में प्रवृत्त साधक वर्तमान में जीने लगता है। वर्तमान बोध से प्रसन्नता आती है और शोक तथा लोभ का नाश होता है। लोभ के मूल में कामना होती है। शोक करने वाला शूद्र होता है और कामना करने वाला वैश्य होता है। जो असत् वृत्तियों को दूर कर सत् वृत्तियों का वरण करने का क्रियायोग करता है वह क्षत्रिय होता है तथा जो शान्त एवं वर्तमान बोध से युक्त समता–भावपरायण होता है वह ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण होकर साधक ईश्वर की पराभक्ति का अधिकारी बनता है, जहाँ समस्त ग्रन्थियों का विच्छेद हो जाता है। प्रसन्नता में चित्त व्याकुल नहीं होता और निराकुल चित्त समाधि का दाता बन जाता है। समाहित चित्त होने पर, प्रिय का वियोग होने पर या अप्रिय की प्राप्ति होने पर सर्वत्र साधक का समभाव, निर्व्याकुलभाव रहता है।

प्राण निस्पंदन से मन निस्तरंग होता है। जब मन शान्त हो जाता है तो चारों ओर आनन्द और प्रसन्नता की बाढ़–सी आने लगती है ; जैसे नदी में बाढ़ आ जाने पर ऊँचा–नीचा, गहरा–उथला सब बराबर नजर आता है, ऐसे ही जो शोक और कामना रहित हो जाता है, वह सब प्राणियों में उस साक्षी चेतन के ही बराबर दर्शन करता है, जिससे वह राग–द्वेष विमुक्त

होकर समाधि में रहता है।

पातंजल योग–दर्शन में चित्त की प्रसन्नता का एक और उपाय बताया गया है वह है– प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास। हमारे प्राण कामना और शोक–क्रोध–लोभ आदि वृत्तियों के कारण क्षोभयुक्त होकर व्यथित होते रहते हैं जिससे वे इन्द्रिय और विषयों की ओर दौड़कर मन को चंचल बनाते हैं। यदि इस क्रम को उलट दिया जाए तो यही विपरीत भावना या 'उलटी–रहनि' कहलायेगी। इसी को योग–दर्शन में प्रतिपक्ष भावना कहा गया है। योग–दर्शन का सूत्र है–

" मैत्री करुणामुदिता उपेक्षाणाम् सुख–दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्। "

जो व्यक्ति प्रसन्नता का लाभ कर रहे हैं तथा दिखाई पड़ते हैं उनके प्रति मित्रता का भाव रखने से चित्त प्रसन्न होता है। तत्व दृष्टि से देखा जाए तो सुखी प्राणियों में भी तो मैं ही आत्मा स्वरूप से विद्यमान हूँ। अपने स्वरूप की उनमें भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है। पंच–तंत्र में एक कहानी आती है – मैत्री बल के सम्बन्ध में। कौआ, कछुआ, मृग और चूहा साधनहीन होने पर परस्पर मित्रता के कारण मैत्री बल से महान संकटों, जैसे– व्याध, सिंह तथा अन्य आपघातक जीवों से आत्म रक्षा करने में सदा समर्थ रहे। इसी प्रकार सुखी प्राणियों से जो मैत्री की भावना करता है उसके मन में उनकी प्रसन्नता का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है, जिससे वह प्रसन्न होता रहता है। दूसरा उपाय है– करुणा का भाव। जिस प्रकार कठोर बर्फ पिघल कर जीवनदायक जल बन जाती है, उसी प्रकार दुःखी व्यक्तियों को देखकर हम अपनी कठोरता त्याग कर तरल और सरल बन जाएँ तो चित्त प्रसन्न होता है। कहा जाता है कि अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन पार्लियामेंट (व्हाइट हाउस) जा रहे थे तभी उन्हें विपन्नावस्था में कीचड़ में फँसा हुआ सूअर दिखाई पड़ा वे उसे कीचड़ से बाहर निकालने के लिए उतर पड़े और करुणा के भाव में भरकर उन्होंने अपने समय पर पहुंचने तथा शाही वस्त्रों के गन्दे होने की बिना परवाह किए सूअर को बाहर निकाल दिया। इस सब के कारण वे देर से कीचड़ में सने हुए कपड़ों में जब संसद में पहुंचे तो सांसदों ने सारा हाल जानकर उनकी करुणा की सराहना की। वे सराहना करने वालों से बोले– मैंने अपनी प्रसन्नता के लिए सूअर को कीचड़ से बाहर निकाला था न कि प्रशंसा पाने के लिए। दुःखी लोगों पर करुण होने से अन्तःकरण अभिमान रहित हो जाता है। निर्मल हो जाता है। जिससे दया, दान तथा परोपकार के झरने से फूटते हैं। हमारी वाणी मधुर निकलती है। अहंकार बाहर से सबको समेट कर भीतर लाना चाहता है, करुणा भीतर को बाहर की ओर खोलती है। अहंकार संग्रह करता है और करुणा त्याग। पुण्यात्माओं में प्रेम होने से हृदय मुदित होता है जिससे असूया और कालुष्य दूर हो जाता है। पापियों से उदासीनता युक्त होने पर चित्त प्रसन्न रहता है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग एवं गुरुदेव

श्री पूर्णचन्द पन्त शास्त्री

यद्यपि सभी प्रकार की विधायें गुरु के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती हैं। बिना गुरु के मनुष्य किसी भी विधा में पारंगत नहीं हो सकता। अक्षरारम्भ से लेकर गणित, विज्ञान, साहित्य, संगीत, शिल्प, सर्जरी तथा यान्त्रिकी आदि सभी लौकिक विद्यायें अनुभवी शिक्षक ही सिखाते हैं, किन्तु आध्यात्मिक मार्ग तो है ही गुरुगम्य। अतः इस मार्ग में गुरु की विशेष आवश्यकता रहती है। बिना गुरु के इस मार्ग में चलना तो दूर रहा, मनुष्य एक कदम भी नहीं उठा सकता। हम बाहरी संसार के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, किन्तु अपने बारे में हमें कोई भी स्पष्ट जानकारी नहीं होती कि हम क्या हैं और क्या बन सकते हैं? अपने दोषों का, मनोभूमि का, आत्मिक स्तर का एवं प्रगति का हमें स्वयं पता नहीं चल सकता। अन्तर्दृष्टा अनुभवी गुरुदेव ही इस बात को जानते हैं कि साधक का आत्मिक स्तर क्या है। उसके अन्दर क्या गुण–दोष हैं तथा किस प्रकार से उसका कल्याण हो सकता है ? इत्यादि बातों पर विचार कर तथा उसके पूर्व जन्म के संस्कारों को देखकर उसके लिए वही मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिस पर वह आसानी से चलता हुआ परम कल्याण का भागी बन सके। यहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगा कि योगी सद्गुरु त्रिकालदर्शी हुआ करते हैं। वे साधक के एक जन्म के बारे में ही नहीं, बल्कि उसके हजारों पूर्व के और आगे होने वाले जन्मों के बारे में अपनी योग–शक्ति से जान लिया करते हैं।

योग–मार्ग के पथिक के लिए अनुभवी गुरु का मार्ग–दर्शन नितान्त आवश्यक है। उसी के सहारे आध्यात्मिक यात्रा सुविधापूर्वक होती है अन्यथा बिना मार्ग–दर्शक के योग–मार्ग पर चलना तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। कठोपनिषद् का वचन है–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

अरे मनुष्यो ! तुम लोग जन्म–जन्मान्तर से अज्ञानरूपी निद्रा में सोये हुए हो। अब भी समय है– उठो, जागो और महापुरुषों की शरण में जाकर उनके उपदेश द्वारा अपने कल्याण का मार्ग और परमात्मा का रहस्य समझ लो। परमात्मा का रहस्य और उसका ज्ञान बड़ा गहन है। उसके स्वरूप का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति का मार्ग तलवार की तेजधार पर चलने के समान है। ऐसे दुस्तर मार्ग से सुगमतापूर्वक पार होने का उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं जो इस मार्ग को स्वयं पार कर चुके हैं।

उपनिषदों में गुरु–शिष्य परम्परा का स्थान–स्थान पर वर्णन किया गया है और इस सिद्धान्त का निर्णय किया गया है कि श्रद्धालु, जिज्ञासु, साधन–परायण, संयमी एवं गुरु–भक्त साधक ही योग की अमरनिधि को पा सकता है। जैसे –

गुह्याद् गुह्यतरमेषां न, प्राकृतायोपदेष्टव्या।
सात्त्विकायान्तर्मुखाय, परिशुश्रूषवे।।

—महावाक्योपनिषद्

इस उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) का साधारण पुरुषों को उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अत्यन्त गोपनीय है, किन्तु सात्विक वृत्ति वाले अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुदेव की सेवा में निरत मनुष्य को ही इसका उपदेश करना चाहिए।

श्रद्धालुर्मुक्ति मार्गेषु, वेदान्त ज्ञानलिप्सया।
ईपायनकरो भूत्वा गुरुं, ब्रह्मविदं व्रजेत्।।
सेवाभिः परितोष्येदं, चिरकालं समाहितः।
सदा वेदान्त वाक्यार्थं, श्रृणुयात्सुसमाहितः।।

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

मुक्ति—मार्ग मे श्रद्धा रखने वाले साधक को चाहिए कि वह वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ हाथ मे कुछ भेंट लेकर किसी सद्गुरु की शरण में जाये और चिरकाल तक सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करे तथा एकाग्र चित्त होकर उनसे वेदान्त वाक्यों को सुनें और समझें।

सत्कर्म विपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते।
तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकाल, सेवया बन्धमोक्षं कश्चित्प्रच्छति।।

—पैङ्गलोपनिषद्

जब सत्कर्मों के परिपाक से अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष—प्राप्ति की इच्छा होती है, तब वह किसी सद्गुरु की शरण में जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा करके बंधन से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

तद्विज्ञानार्थं सः गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

—मुण्डकोपनिषद्

जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह परमेश्वर का वास्तविक तत्व—ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय के साथ ऐसे सद्गुरु की शरण में जाये जो वेदों के रहस्य को भलीभाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों।

साधकों को अपने स्वरूप को समझने की इच्छा से,जीवन्मुक्ति की इच्छा से संतों की सेवा करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र, घर, धन सब उन्हें अर्पण कर देना चाहिए, गुरु से बढ़ कर और कुछ नहीं है। जिसके द्वारा यह सारा संसार प्रकाशित होता है, जाना जाता है। उन श्रीगुरुदेव से बढ़कर दूसरा और कौन हो सकता है ? इस तथ्य को भलीभाँति जानकर जीव निश्चित ही मुक्त हो जाते हैं।

जहाँ गुरु है, वहाँ शिव हैं। गुरु और शिव स्वरूप ही वह महेश्वर हैं। भ्रमरकीट सिद्धांत

द्वारा यह प्रसिद्ध है कि भृंगी नामक कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब अपने घर में बन्द कर देता है तो वे कीड़े भय के कारण निरन्तर उस भृंगी का ध्यान करते रहने से भृंगी जैसे ही बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार शिवस्वरूप गुरुदेव का निरन्तर ध्यान करने से साधक मुक्त हो जाता है। शिवलिङ्ग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार गुरु के अभिषेक से तथा चरणामृत पीने से अनन्त जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं। गुरु में प्रेम रखना ही शिव से प्रेम करना है। गुरु के समीप रहना ही परम पवित्र वास है। अत: शिव की शरण लेनी चाहिए, गुरु की शरण लेनी चाहिए।

गुरु जो भी आज्ञा दें उसका पालन शिष्य को बिना सोचे–विचारे अत्यन्त सन्तोषपूर्वक करना चाहिए। इस विद्या को गुरु से ही प्राप्त करें तथा गुरुदेव की सदा सेवा–सुश्रूषा करता रहे। वेदों में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि हैं। यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्तिपरायण रहे, अन्यथा किसी को नहीं देनी चाहिए। यदि कोई देता है तो देने वाला नरक–गामी बनता है और लेने वाले को भी किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती।

जो विद्या प्राप्त करके भी मन, वाणी और कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते। कल्याण चाहने वाले व्यक्ति उनके अन्न को ग्रहण नहीं करते हैं। न गुरु और न यती ही उस कृतघ्नी के अन्न को खाते हैं।

गुरु ही परम धर्म है, गुरु ही परम गति है। एकाक्षर के ज्ञानदाता गुरु का जो सम्मान नहीं करता, उसकी विद्या, उसकी तपस्या और उसका ज्ञान धीरे–धीरे ऐसे क्षीण होकर समाप्त हो जाता है जैसे कच्चे घड़े में जल समाप्त हो जाया करता है।

गुरुदेव का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा सद्गुरु के बाह्य लक्षण क्या हैं ? इस सम्बन्ध में अद्वयतारकोपनिषद् में कहा गया है –

आचार्यो वेदसम्पन्नो, विष्णुभक्तो विमत्सर:।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च, सदा योगात्मको शुचि:।।
गुरुभक्ति समायुक्त:, पुरुषज्ञो विशेषत:।
एव लक्षण सम्पन्नो, गुरुरित्यभिधीयते।।

–तारकोपनिषद्

वेद–सम्पन्न आचार्य, ईश्वरभक्त, मत्सरतारहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्र रहने वाला, गुरु–भक्त तथा परमात्मा में विशेष रूप से लीन रहने वाला इन लक्षणों से युक्त महापुरुष गुरु कहलाता है।

'गु' शब्दस्त्वन्धकार: स्यात्, 'रु' शब्दस्तन्निरोधक:।
अन्धकार निरोधित्वात्, गुरुरित्यभिधीयते।।
गुरुरेव पराकाष्ठा, गुरुरेव परा गति:।
यस्मादुपदेष्टासौ, तस्माद्गुरुतरो इति।।
य: सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति।

सर्वं जन्मकृतपापं तत्क्षणादेव नश्यति।

सर्वान् कामानवाप्नोति।

सर्वं पुरुषाणि सिद्धिर्भवति।

य एवं वेद इत्युपनिषद्।

–अद्वयतारकोपनिषद्

'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है रोकने वाला। अन्धकार का विरोधी होने के कारण गुरु कहलाता है।

गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परम गति है, गुरु ही पराविद्या है, गुरु ही परायण योग्य है, गुरु ही पराकाष्ठा है और गुरु ही परम धन है। वह गुरु उपदेश करने वाला होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। गुरु शब्द का उच्चारण करने मात्र से मनुष्य का संसार–सागर से छुटकारा हो जाता है। सब जन्मों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते शुभकामनाएँ पूरी हो जाती हैं और सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वही उपनिषद् का ज्ञाता है।

गुरु–कृपा ही साधक के कल्याण का एकमात्र साधन है। यह स्पष्ट करते हुए महोपनिषद में कहा गया है–

दुर्लभो विषय त्यागो, दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्‌गुरोः करुणां विना।।

सद्‌गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग करना सम्भव नहीं है, तत्व–ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है और सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

शिव संहिता में योगीश्वर भगवान सदाशिव ने योग सिद्धि का रहस्य प्रकट करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि गुरु–निष्ठ साधक ही योग मार्ग में प्रगति कर सकता है तथा गुरु सन्तोष ही सकल सिद्धियों का मूल है। जैसे :–

भवेद्वीर्यवती विद्या, गुरु वक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्नि-र्वीर्याप्यति दुःखदा।।
गुरुं सन्तोष्य यत्नेन, ये वै विद्यामुपासते।
अवलम्बेन विद्यायाः, तस्याः फलमवाप्नुयुः।।
गुरुः पिता गुरुर्माता, गुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा, तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते।।
गुरुः प्रसादतः सर्वं, लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं, नान्यथा शुभमाप्यते।।
न भवेत्संगयुक्तानां, तथाविश्वासिनामपि।

गुरु पूजा विहीनानां, तथा च बहुसंगिनाम्।।
मिथ्यावादरवानां च, तथा निष्ठुर भाषिणाम्।
गुरु सन्तोष हीनानां, न सिद्धिः स्यात्कदाचन।।

अर्थात्– गुरुदेव के मुखारविन्द से प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती हुआ करती है। अन्यथा गुरुपदेश के बिना किया गया योगसाधना सम्बन्धी पुरुषार्थ निष्फल चला जाता है, उसके साधक के अन्दर शक्ति का अभ्युत्थान नहीं होता और उसकी वह साधना अत्यन्त दुःखदायी होती है। जो साधक भक्तिपूर्वक गुरुदेव की सेवा तथा उनके आज्ञापालन से उन्हें सन्तुष्ट करके योग विद्या का अभ्यास करते हैं वे उसका फल प्राप्त कर लेते हैं, गुरु ही पिता है, गुरु ही माता है और गुरु ही देवता है। इसलिए कर्म से, मन से और वाणी से गुरुदेव की सेवा करनी चाहिए उनकी सेवा से सबकी ही सेवा हो जाती है। गुरु कृपा से साधक का हर प्रकार से आत्म–कल्याण हो जाता है। अन्यथा कल्याण प्राप्ति नहीं होती। संसार में आसक्त रहने वाले, ईश्वर तथा शास्त्रों में विश्वास न करने वाले, गुरु पूजा न करने वाले, विविध मतमतान्तर तथा सांसारिकता में संलिप्त जन समुदाय में रुचि रखने वाले, व्यर्थ के वाद–विवाद में पड़े रहने वाले, कठोर वाणी बोलने वाले और गुरुदेव को सन्तुष्ट न करने वाले लोगों को कभी योगसिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार योग मार्ग में गुरुदेव ही साध्य हैं और वे ही साधन हैं। गुरुदेव के शक्तिपात से ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है और वह षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्त्रार तक पहुंचती है। उन्हीं के कृपापूर्ण शक्तिपात से हृदयग्रन्थि खुलती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं, पाप और पुण्य के फलदाता सभी प्रकार के कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। साधक का अन्तर्जगत में पूर्णरूपेण प्रवेश हो जाता है। वह समाधिजन्य परम सुख का उपभोग करता हुआ गुरु–कृपा से अन्त में मोक्ष का भागी बन जाता है।

इस प्रकार योग प्रेमी साधक के अन्दर पात्रता होनी चाहिए। अधिकारी शिष्य पर ही गुरुदेव अनुग्रह पूर्वक शक्तिपात किया करते हैं, जिससे उसका हर प्रकार से कल्याण होता जाता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि गुरुदेव पूर्ण शक्तिमान तथा कर्तुम–कर्तुम अन्यथा कर्तुम् की सामर्थ्य वाले हों। क्योंकि–शिष्य को जहाँ अर्जुन जैसा उत्तम योगाधिकारी बनना आवश्यक है वहाँ गुरु को भी श्रीकृष्ण जैसा योगेश्वर होना चाहिए। अधिकारी शिष्य को इस प्रकार के योगेश्वर्य सम्पन्न गुरुदेव मिल ही जाया करते हैं और उनकी कृपा से उसका उद्धार भी हो जाता है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग और प्रारब्ध भोग

आचार्य श्री चन्द्रराम शर्मा

जीवन में जो कुछ सुख–दुःख प्राप्त होता है उसका कारण हमारा भाव है। भाव की प्रक्रियाओं से कर्म पैदा होता है। हमारा भाव संस्थान चेतना का निर्वहण करके बाह्य परिस्थिति से क्रिया प्रतिक्रिया करके चेतना को तरंग रूप से प्रसारित करता है। भाव और कर्म मिलकर कर्माशय तैयार करते रहते हैं। कर्माशय में प्रारब्ध और संचित कर्म इकट्ठे होकर भोग के लिए बाहर आकर क्रियमाण कर्मों में बदल जाते हैं। संचित कर्मों में से प्रधान कर्म अपने साथ समान धर्म के कर्मों को लेकर संस्कार के रूप से जन्म, आयु और भोग तैयार करता है। जो भोग के लिए प्रस्तुत कर्म होता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध भोग के वशीभूत होकर जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। यह कर्म–चक्र अहर्निश चलता रहता है। कर्म हमारे भाव अनुसार पुण्य–पाप अथवा पुण्य–पाप से मिले जुले होते हैं। केवल योगी के कर्म भाव–रहित शुद्ध कर्म क्रियमात्र होते हैं। इसलिए योगी कर्म करते हुए संस्कार नहीं बनाया करते। ध्यान, समाधि द्वारा योगी कामना और वासना को वैराग्य द्वारा क्षीण कर लेते हैं, जिससे उनके अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश पैदा हो जाता है। ज्ञान की दशा में जो कर्म करता है। वह दुःख का कारण नहीं होता और न उससे संस्कार–चक्र का निर्माण होता है। जितने अज्ञान–जनित दुःख हैं,उनकी निवृत्ति ज्ञान से हो जाती है, किन्तु प्रारब्ध–जनित दुःखों की निवृत्ति ध्यान से ही होती है। प्रारब्ध कर्म बिना भोगे हुए क्षीण नहीं होते। योगी ध्यानयोग द्वारा कर्मों को सूक्ष्म में भोगकर समाप्त करने का विज्ञान जानकर अपने कर्माशय को शुद्ध बना देता है। वह दो प्रकार से भोग करके अपने कर्मों को निःशेष करता है। एक तो कर्मों के बीज अस्मिता (अहंकार) को ज्ञानाग्नि से भूनकर उनकी अंकुरित होने की सामर्थ्य को सदा–सदा के लिए नष्ट कर देता है। धान के ऊपर का छिलका उतार कर जैसे – चावल की अंकुरण क्षमता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कामना और संकल्प रहित होकर भाव का छिलका कर्मों से उतार कर केवल क्रिया से रूप में कर्म करने पर संस्कारों का जन्म नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में इन सिद्धान्तों का निरूपण इस प्रकार करते हैं –

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डित बुधाः।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्ग, नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किंचित्करोति सः।।
निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते।।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते।।

–गीता 4/19–20–21–22–23

अर्थात् जिस व्यक्ति को कर्म करते हुए खेद नहीं होता तथा इच्छा रहित होकर कर्त्तव्य भाव से कर्म–परायण रहता है तथा कर्म–फल की कामना नहीं करता उसी प्रकार मैं यह करूँगा, ऐसा संकल्प जिसके मन में नहीं होता। जिसके समस्त कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं, मानो कर्मो की आहुति ज्ञानाग्नि देकर कर्मो को भस्म कर देता है, वह व्यक्ति बुद्धिमान है। ऐसा व्यक्ति अपने हृदय में स्थित परमात्मा के आनन्द में डूबा रहता है तथा "**मोहि छाँड़ि दूसरि गति नाहीं।**" यह मानकर बाहरी आलम्बनों की ओर उदासीन रहता है। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्त्तव्य और भोगकत्व रहित होने के कारण अकर्त्ता ही होता है। जो अहंकार और आशा का परित्याग करके अधिकाधिक प्रेम से ब्रह्म सुख का माधुर्य चखता है और ' यथा लाभ सन्तोष सदा ही ' के मूलमन्त्र को हृदयंगम कर लेता है। जो अपने और पराये का भेद–भाव नहीं करता। जहाँ–जहाँ दृष्टि जाती है, उसे अपना ही रूप मानता है, वह शरीर से ही कर्म करता है, मन अपने इष्ट में लगाकर रखता है। जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं–

कर ते कर्म करिअ विधि नाना।
मन राखिय जहाँ कृपानिधाना।।

वह गीता के सिद्धान्तानुसार–

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न, हन्ति न निबध्यते।।

–गीता 18/17

आत्मा कर्म का अधिष्ठान होने पर भी उसका कर्त्ता नही होता। अहंकार रहित निर्लिप्त बुद्धि से कर्म करने वाला यदि समस्त लोगों को मार दे तो भी वह कर्म–फल का भागी नहीं होता, क्योंकि वह कामना, अहंकार तथा संकल्प रहित हो गया है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जब तक देह है, तब तक कर्म तो करता रहता है, किन्तु जैसे सूर्य की किरणें मलिन और पवित्र सभी स्थानों पर पड़ती है, पर वे न पवित्र होती हैं न मलिन। उसी प्रकार वह आत्म–स्वरूप में स्थित होने के कारण अकर्त्ता भाव को प्राप्त हो जाता है। देहाभिमान नष्ट हो जाने पर भी, जिन कर्मो के फल से देह उत्पन्न हुआ है वे कर्म उससे कार्य कराते ही रहते हैं। उसके कर्म वैसे ही होते हैं जैसे बिना बोये हुए जंगल पैदा हो जाता है। जैसे दीवार पर बने चित्रों में कहीं पहाड़, कहीं समुद्र और कहीं अग्नि चित्रित होने से भिन्न–भिन्न लगते है, किन्तु वास्तव में वह दीवार से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञानी को आत्मा से भिन्न कुछ भाषित नहीं होता। उसके लिए सारे कर्म आनन्द रूप, ज्ञान रूप तथा मोक्ष फलभाजन बन जाते हैं। आत्म–दृष्टि के लिए ध्यान की

आवश्यकता है। कर्म प्रकृति का साक्षात्कार करने पर निवृत्त होते हैं। जब तक प्रकृति का पूर्ण साक्षात्कार नहीं होता तब तक निष्कामता नहीं आती। जब तक प्रयोजन होता है तब तक प्रयोज्य रहता है। प्रयोज्य के रहते प्रयोजन रहता है। प्रयोज्य–प्रयोजन भाव ही कर्म श्रृंखला का कारण है। जब तक मनुष्य ध्यानपरायण नहीं बनता तब तक केवल ज्ञान से क्रियमाण कर्म अच्छे भले ही बन जाए। प्रारब्ध और संचित कर्म ध्यान और समाधि से ही शीघ्र भोग कर नष्ट किये जा सकते हैं। योग ही ऐसा विज्ञान है, जिससे कर्मों से कर्म काटने की क्रिया उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार लोहे की बेड़ी को लोहे की छेनी से काटकर मुक्त हुआ करते हैं।

कर्त्तापन के गल जाने पर भोक्तापना स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हम अपने साथ कई शरीर लिये घूम रहे हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय तथा तुरीयातीत शरीरों के माध्यम से चिति–शक्ति हमारे अन्दर से बाहर प्राण के रूप में प्रवाहित हो रही है। उसे जैन योग में तरंग लेश्या भाव शरीर, कर्म शरीर, मूर्च्छा, राग, काय आदि प्रकार से विभक्त किया गया है। योग–दर्शन में तुरीर शरीर तक सभी शरीर भोग शरीर हैं। हम शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार स्तर पर कर्मों को भोगा करते हैं। आत्मा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सम्बन्ध से भोक्ता कहलाता है। वैसे आत्मा न कर्त्ता है और न भोक्ता। ध्यान में जब प्राण ब्रह्म नाड़ी में आते हैं तो समाधि होती है। समाधि में आत्म–चैतन्य का अखण्ड–प्रवाह होता है। यह लेश्या और तरंग के साथ एकात्मभाव की अवस्था है। समाधि काल में हमारे प्रारब्ध का प्रवाह ठहर जाता है अथवा बीज रूप होकर सूक्ष्म में मुक्त हो जाता है। जैसे किसी का प्रारब्ध कर्म वर्तमान में क्लिष्ट कर्म विपाक के रूप में दुःख रूप फल देने को उद्यत हो रहा है। जैसे सर्पदंश से मृत्यु होने का योग है या किसी दुर्घटना से शरीर नाश का या अंग–भंग होने का योग है। यह वह व्यक्ति समाधिस्थ है तो जिस ध्येय में उसका चित्त लय है, उस इष्ट की ताकत से प्रारब्ध का भोग सूक्ष्म होकर नष्ट हो जायगा। जैसे सर्प का ध्यान में दर्शन या दंश होकर सूक्ष्म शरीर से मन द्वारा उसका भोग हो जायगा। कभी–कभी इष्ट–कृपा से स्वप्न में उस संस्कार का भुगतान होकर वह नष्ट हो जायेगा।

मृदु और मध्यम कोटि के प्रारब्ध कर्म का भोग ध्यान द्वारा कम अवधि में तथा सूक्ष्म रूप से भोग कर नष्ट हो जाता है, क्योंकि नियम है कि जब तक संस्कारों का भोग नहीं होता तब तक अनन्त काल तक कर्माशय में संस्कार पड़े रहते हैं और अनुकूल अवसर मिलने पर एक जैसे संस्कार इकट्ठे होकर अपना फल देने लगते हैं। गरुड़ पुराण में इस सिद्धान्त का निरूपण है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म, जन्म कोटिशतैरपि।।

अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों का बिना भोग किये नाश नहीं होता। जब तक कर्मों का भोग नहीं होता तब तक करोड़ों जन्मों तक ये कर्म कर्माशय में पड़े रहते हैं। यदि ज्ञान प्राप्त हो जाए तो क्रियमाण कर्मों पर अधिकार हो जाता है। पुण्य कर्म होते हैं, जिनसे पाप कर्म नष्ट होते हैं। किन्तु पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्म ही सुख–दुःख के रूप में लोहे और सोने की जंजीरों की तरह बन्धन रूप ही हैं। अतः योगी कर्माशय के अन्दर के सभी संचित कर्मों को संस्कार, साक्षात्कार द्वारा जानकर ध्यान–समाधि से नष्ट करता चला जाता है। जीवन्मुक्त

अवस्था ज्ञान दशा है तथा विदेहावस्था कर्म नि:शेष मोक्षावस्था है। ज्ञानी और योगी होकर साधक स्थूल–सूक्ष्म सभी पर्यायों को जानकर सब पर अपना अधिकार प्राप्त हुआ कर्म–बन्धन पर पूरा अधिकार प्राप्त कर स्वतंत्र हो जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता चरमोपलब्धि शैवागमों में "**स्वातंत्र्यं चितिशक्ति:**" ऐसा कहा गया है। जब विराट चेतना हर देश और काल में व्याप्त हो जाती है तो कर्माशय नष्ट हो जाता है। लेकिन यह इतना आसान नहीं है। गीता में भगवान कहते हैं कि –

" अनेक जन्म संसिद्ध:, ततो याति परां गतिम्। "

अर्थात् अनेक जन्मों तक (जब तक संचित कर्मों का नाश नहीं होता तब तक) सिद्ध अवस्था प्राप्त करके अन्त में संचित कर्मों के नि:शेष हो जाने पर जब कर्म नहीं रहते तो कर्माशय नहीं रहता और कैवल्य सिद्धि प्राप्त होती है। कबीर ने इस स्थिति को "**फूटा कुम्भ जल जलहि समाना**" ऐसा कहा है। ब्रह्म सूत्र में – "**भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते।**" इस सूत्र में उल्लेख है कि प्रारब्ध और संचित दोनों प्रकार के कर्मों का भोग करके पाप–पुण्य दोनों को क्षीण करके योगी विदेहमुक्त होता है।

भोग–काल उपस्थित होने पर साधक को घबराना नहीं चाहिए। दु:ख का संस्कार आने पर दु:ख भोग द्वारा वह संस्कार नष्ट होता है। जिसे इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, वह दु:ख आने पर घबराता नहीं, बल्कि यह जानकर प्रसन्न होता है कि कांटा निकल गया और सुख आने पर पागल नहीं हो जाता बल्कि उसे भी संस्कार का भुगतान मानकर हल्का अनुभव करता है। यह स्थिति बाह्य ज्ञान–दशा से नहीं आ पाती। कहने को हम भले ही कहते रहें कि ज्ञान हो गया है, इसलिए सुख–दु:ख हमें विचलित नहीं कर पाते। वास्तव में ऐसा तभी हो पाता है, जब ध्यान द्वारा मन समाहित होता है। मन की एकाग्रता से संस्कार–चक्र ठहर जाता है। समाधिस्थ योगी का संस्कार–चक्र अपने अधिकार में हो जाता है। प्रारब्ध भोग सुख–दु:खात्मक होता है। संस्कार की तीन अवस्थायें होती हैं– उदार, प्रच्छन्न या प्रसुप्त और विच्छिन्न। जो संस्कार भोग में आ रहे हैं, उन्हें उदार संस्कार कहा जाता है और जो भोग में आने की प्रतीक्षा में पड़े हुए हैं, वे प्रसुप्त संस्कार कहलाते हैं तथा जो भोगकर नष्ट हो गये हैं, उन्हें विच्छिन्न संस्कार कहते हैं। संस्कार–प्रवाह से चित्त–विक्षिप्त होता है, अत: साधक को भोग का भुगतान करने में कर्ज अदा करने जैसा अनुभव करना चाहिए और समता का अभ्यास करते रहना चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

सुखदु:खे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापमवाप्स्यसि।।

–गीता 2/38

सुख–दु:ख, लाभ–हानि तथा जय–पराजय को संस्कारों का भुगतान मानकर समबुद्धि से स्वीकार करते हुए जो धर्म–युद्ध (कर्म–क्षेत्र) में प्रवृत्त होता है वह पाप का भाजन नहीं बनता। भगवान् प्रारब्ध भोग के लिए सहनशीलता के विकास करने का उपदेश देते हुए आगे कहते हैं–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्ण सुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तां, स्तितिक्षस्व भारत।।

–गीता 2/14

संस्कार भोग के परिणामस्वरूप मनुष्य का अन्तःकरण विषयों की तरफ आकर्षित होता है। उसी से भ्रम और मोह होता है इन्द्रियाँ विषयों का सेवन करतीं हैं, जिससे सुख–दुःख का अनुभव होता है और हमारा अन्तःकरण सुख–दुःख से रंजित हो जाता है। जैसे कानों से हम अपनी निन्दा सुनते हैं तो द्वेष उत्पन्न होता है और स्तुति सुनकर सुख होता है। इसी प्रकार रूप–कुरूप को देखकर नेत्रों को सुख–दुःख का अनुभव होता है। यदि इन्द्रियाँ वश में हो जायें तो सुख–दुःख की प्रतीति आधी रह जाती है। ये विषय सुख ठहरते नहीं है। क्योंकि ये संस्कार जन्य भोग के आधीन है। जिस व्यक्ति के साथ जब तक का संस्कार है, तभी तक वह पिता, पुत्र, भाई, मित्र या शत्रु के रूप में विद्यमान रहता है। जैसे ही संस्कार पूरा हुआ, जीव आगे के संस्कारों को भोगने के लिए दूसरे आलम्बनों और अधिष्ठानों से संयुक्त होता रहता है। इसीलिए सन्तजन कहा करते हैं कि सुख मृग मरीचिका की भाँति अथवा स्वप्न में भोगे गये ऐश्वर्य के तुल्य होता है। अतः साधक को सुख–दुःख दोनों को आने–जाने वाले समझकर दृढ़ता से सहना चाहिए तथा संस्कार क्षय करने की ओर ध्यान और समाधि द्वारा प्रयत्न करते रहना चाहिए। विघ्न और विक्षेपों को संस्कार भोग समझकर अपनी साधना को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने में ही बुद्धिमानी है। जो सुख–दुःख के झमेलों को एकरस होकर झेलता हुआ धीरपुरुष बन जाता है **'सोऽमृतत्वाय कल्पते'**– वह अमृत पान कर पाता है और जो कांटा लग जाने पर कांटा–निकल जाने पर उसकी कसक का बार–बार स्मरण करता हुआ व्याकुल होता रहता है या कांटा कैसे लगा और कैसे न लग पाता, इसी की कथा कहने में लगा रहता है वह मार्ग को तय नहीं कर पाता–

जिन्हें मंजूर मंजिल होती है, वे कब आह भरते हैं।

सफर अंजाम जिनके जीवन का, थकते न वे आराम करते हैं।।

इश्क में तनहाई होती है मगर, दिल को याद से आबाद रखते हैं।

अज्ञान की दो शक्तियाँ मानी जाती हैं–

आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति स्वरूप को ढकने का कार्य करती है तथा विक्षेप शक्ति जगत को अन्यथा प्रतीति कराती है। ज्ञान होने पर आवरण तो भंग हो जाता है, किन्तु विक्षेप शक्ति का कार्य समाप्त नहीं होता वह प्रारब्ध कर्मवश चलता ही रहता है। वृत्तियों का समूलोन्मूलन होने पर विक्षेप शक्ति नष्ट होती है तभी कैवल्य होता है। गौड़पादाचार्य इसे चरम मुक्ति कहते हैं। अर्थात् इसके बाद फिर जन्म और मृत्यु नहीं होते। कैमरे में जैसे अन्दर लाइट आ जाने पर फोटो नैगेटिव ही रह जाता है, पोजिटिव नहीं हो पाता। उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर ज्ञानी के हृदय में जगत के सुख–दुःख भासित तो होते हैं, किन्तु उसका चित्र नहीं

बनता। ज्ञान होने पर स्वेच्छा से शरीर वरण करने की सम्भावना बन जाती है। काकभुसुण्ड के अनेक जन्म हुए, किन्तु सभी जन्मों में उन्हें ज्ञान बना रहा। जब तक विभिन्न शरीरों के प्रारब्ध भोग को उन्होंने भोगकर योग–ध्यान–समाधि द्वारा नष्ट नहीं कर दिया तब तक वे मुक्त नहीं हुए। संचित कर्म से भावी जन्म होता है। संचित कर्म समाप्त तो भावी जन्म भी समाप्त।

ज्ञान भी प्रारब्ध कर्म केबिना नहीं होता। जब ज्ञान हो जाता है तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। प्रारब्ध कर्म को फलीभूत करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुष की संकल्प–शक्ति तथा श्री सद्‌गुरुदेवजी की कृपासे ज्ञान की चिनगारी बीज रूप से प्राप्त हो जाती है, किन्तु जब तक उसे पुरुषार्थरूपी हवा नहीं मिलेगी, तब तक पूरी तरह सुलग नहीं सकेगी। साधना को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने के लिए पुरुषार्थ की नितांत आवश्यकता है। प्रारब्धवश सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, किन्तु बिना पुरुषार्थ के कृपा पूरा कल्याण नहीं करती। 'कछु करनी, कछु करमगति, कछु पूर्वजन्म का लेख ' सब मिलकर फलदायी बनते हैं। दवा के साथ अनुपान और तथ्य नहीं है तो रोग नष्ट नहीं होगा। दवा का पूरा फायदा पथ्य और अनुपान के सहयोग से होगा। योगवाशिष्ठ में योगिराज वशिष्ठ कहते हैं कि हे राम ! पुरुषार्थ ही देव है, प्रारब्ध तो कारणमात्र है। प्रारब्धवश योग–प्रवृत्ति होती है, किन्तु पुरुषार्थ द्वारा ही फल प्राप्ति होती है। योग साधक के मन में यह दृढ़ संकल्प हो ' **कार्यं वा साधयेयम्, शरीरं वा पातयेयम्** ' या तो कार्य सिद्ध करके रहूँगा या देहपात कर दूँगा, समाधि केलिए पुरुषार्थ की परमावश्यकता है। प्रारब्ध प्रेरणादायक हो सकता है, किन्तु पुरुषार्थ ही फलदायक होता है। पुरुषार्थ द्वारा तत्व–ज्ञान होता है। तत्व–ज्ञान से मनोनाश और मनोनाश से वासनाक्षय होता है। इन तीनों से कैवल्य स्थिति होती है।

श्री रामलाल प्रभवे नमः

शुभ सूचना

आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का 134 वाँ प्राकट्य दिवस 8,9 एवं 10 अप्रैल 2022 को श्री सिद्धगुफा सवांई धाम में बड़े ही धूम–धाम से मनाया जा रहा है। गुरु भाई–बहनों से अनुरोध है कि उक्त तिथियों मे सवांई धाम में आकर सत्संग एवं गुरु दर्शन का अनुपम लाभ प्राप्त करें। कोरोना गाईड–लाईन का पालन अवश्य करें।

जय गुरुदेव जी की

निवेदक–

साधक गण श्री सिद्धगुफा

सवांई, एत्मादपुर (आगरा)

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

क्लिष्ट संस्कार का सूक्ष्म भुगतान

प्रेषक :- केशव देव उपाध्याय

उत्तर प्रदेश के मिरजापुर जनपद के सदर तहसील में खुटहा नाम का एक कस्बा है। उसी गाँव के निवासी एक ठाकुर साहब है जिनका नाम श्री राजेश्वरी प्रसाद सिंह है। आस–पास के लोग उन्हें राजेश्वरी बाबू के नाम से सम्बोधित करते हैं। श्री राजेश्वरी बाबू ने एक शक्ति सम्पन्न औघड़ से यंत्र लिया है। कहने का तात्पर्य यह कि श्री राजेश्वरी बाबू औघड़ के शिष्य है। यह शक्ति सम्पन्न औघड़ बिहार प्रान्त के पटना शहर का मूल निवासी है एवं उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रान्त के कई ग्रामों में इसके शिष्य हैं। हमारे एक आदरणीय गुरुभाई जो मिरजापुर जनपद के ही मूल निवासी है, का दामाद कई वर्षों तक रोग एवं दर्द के कारण अपंग रहा। पुत्र मोह के बाद दामाद मोह का ही नम्बर आता है, अतः हमारे आदरणीय गुरुभाई जी भी अपने दामाद का हाल–चाल लेने कई बार उसके घर गये। उनके दामाद को अपंग बने चार साल (वर्ष) पूर्ण हो गये थे एवं पाँचवे वर्ष में चौथा महिना चल रहा था। इसी समय हमारे आदरणीय गुरुभाई जी, अपने दामाद का हालचाल लेने उनके घर पहुँच गये। इस समय भाई जी के दामाद को असह्य कष्ट का अनुभव हो रहा था तथा वह छटपटा रहे थे। श्री भाई जी, जब अपने दामाद के घर पहुँचे तो उनके दामाद ने उचित अभिवादन के बाद, यह कहा कि बाबूजी! अब तो कष्ट सहा नहीं जा रहा है। अब तो ईश्वर से सदैव यही प्रार्थना करता रहता हूँ कि या तो हमें निरोग बना दें या मेरा शरीर छूट जाये अर्थात् मेरी मृत्यु हो जाये। यह कहते–कहते उसके आँखों से अश्रुधारा निकलना आरम्भ हो गई। आदरणीय भाई जी ने अपने गमछे से दामाद के आँसू पोंछे एवं ढ़ाढस बाधते हुये, यह कहा कि बेटा इतने निराश एवं अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।

तदन्तर उन्होंने अपने दामाद से पूछा कि बेटा, तुम्हें इसके निदान का कोई उपाय यदि ज्ञात हो तो हमें बतलाओ। उनके दामाद ने तत्काल ही कहा कि बाबू जी! यदि खुटहा ग्राम के श्री राजेश्वरी बाबू के गुरुदेव औघड़ बाबा की कृपा हो जायें तो मैं अवश्य ही ठीक हो जाऊगा। हमारे आदरणीय गुरुभाई जी ने जब अपने दामाद से औघड़ बाबा का पता पूछा, तो उनके दामाद ने बतलाया कि रहने वाले तो बिहार प्रान्त के पटना शहर के हैं परन्तु आप खुटहा ग्राम के श्री राजेश्वरी बाबू के यहाँ चले जाइये, आप को उनसे औघड़ बाबा का पूरा–पूरा पता लग जायेगा। आदरणीय भाई जी ने अपने दामाद से खुटहा ग्राम की स्थिति एवं वहाँ जाने का रास्ता पूछ कर कागज पर नोट किया एवं फिर साइकिल से खुटहा ग्राम की यात्रा आरम्भ की। जुलाई का महिना था एवं जिस समय यह खुटहा ग्राम की यात्रा आरम्भ कि सायंकाल के साढ़े पाँच बज रहे थे।

हमारे आदरणीय भाई जी सायंकाल करीब पौने सात बजे श्री राजेश्वरी बाबू के निवास स्थान पर पहुँच गये। उनके मकान के सामने काफी लम्बा–चौड़ा मैदान (सहन) था, उस पर करीब सत्तर स्त्री–पुरुष टाट पर बैठे थे। उनके मकान के पास ही एक नीम का पेड़ था, यह अपनी साइकिल उस पेड़ के सहारे खड़ा किये एवं फिर एक आदमी से पूछे कि राजेश्वरी बाबू कहाँ हैं। उस आदमी ने बतलाया कि उनके गुरुदेव औघड़ बाबा आये हुये हैं तथा शौच करने गाँव से बाहर गये हुये हैं। श्री राजेश्वरी बाबू भी उन्हीं के साथ हैं। वह अब आने ही वाले हैं। हमारे आदरणीय भाई जी, एकान्त में नीम के पेड़ के नीचे खड़े होकर, श्री राजेश्वरी बाबू एवं उनके गुरुदवे औघड़ बाबा के आने का इन्तजार करने लगे। जिस मैदान में स्त्री–पुरुष बैठे थे, उनके सामने करीब तीन फीट ऊँचाई पर उनके गुरुदेव के बैठने के लिए बहुत ही सुन्दर आसन बनाया गया है, जिस पर नित्य क्रिया से निवृत होकर आने के बाद उनके श्री गुरुदेव विराजमान होगें। अपने आश्रम से सम्बन्धित भाई–बहनों को अपने इस आदरणीय गुरुभाई के सम्बन्ध में, यह बताना समीचीन होगा कि ये इस समय शिक्षा विभाग के प्रधानाध्यापक पद से सेवामुक्त (रिटायर्ड) हो चुके हैं तथा इनकी ध्यान स्थिति बड़ी ही उच्च स्तर की है। ये नीम के पेड़ के नीचे, एकान्त में खड़े होकर औघड़ बाबा के आसन की तरफ देखते हुए यह विचार कर रहे थे कि कैसी विकट समस्या पैदा हो गई है, अपने सर्व समर्थ गुरुदेव को छोड़कर, मुझे एक औघड़ का इंतजार करना पड़ रहा है। इसी समय पीछे से अपनी शिष्य मण्डली के कुछ लोगों के साथ नित्य क्रिया से निवृत होकर औघड़ बाबा आये एवं इनका हाथ पकड़ कर बोले कि महाशय! आप यहाँ क्या करने आये हैं। इनका हाथ पकड़ हुये वे आदरणीय भाई जी को अपने आसन के पास ले गये एवं पास ही आसन लगवाकर बैठने का अनुरोध किया। तदन्तर औघड़बाबा ने हमारे आदरणीय गुरुभाई से कहा कि मैं उपस्थित साधक समुदाय को कुछ समझाने के बाद फिर स्थिर मन से आप से बात करता हूँ। इसके बाद उन्होंने करीब एक घंटे तक प्रवचन किया एवं फिर सबको प्रसाद वितरण कर अपने–अपने निवास स्थान जाने का आदेश दिया। उसके बाद औघड़ बाबा ने हमारे आदरणीय गुरुभाई से आने का प्रयोजन जानना चाहा। हमारे आदरणीय भाई जी ने कहा कि हमारा एक दामाद जिसका नाम 'श्री फूलचन्द' है, करीब साढ़े चार साल से अपंग बन कर बिस्तर पर पड़ा है। श्री फूलचन्द का नाम सुनते ही वह और न बताने का इशारा करते हुये कहा कि, उसकी बात आप मत करिये। उसके रोग के निवारण के लिए आज से चार वर्ष पूर्व ही एक आदमी हमारे पास आया था, मैंने उसके इलाज के लिये, उसने हवन की सामग्री और दक्षिणा की माँग की थी। उसके बाद, वह फिर लौटा ही नहीं। मेरी इच्छा तो यही थी कि वह असह्य कष्ट जिन्दगी भर सहता रहे। मुझे क्या पता कि वह आप का दामाद है?

इसके बाद औघड़ बाबा ने आगे बतलाया कि अपने ननिहाल की कई लाख की सम्पत्ति हड़प लिया है, क्योंकि उसका ननिहाल नावल्द हो गया। उसे अपने ननिहाल की सम्पति में केवल मात्र अपना हिस्सा लेना चाहिये था, परन्तु उसने अपने हिस्से के अलावा पाँच और लोगों का हिस्सा, बेईमानी एवं जबरदस्ती ले लिया है। अब भोगेगा कौन? उसने आगे कहा कि:–

''मजा तुमने उड़ाया है, मुसीबत कौन झेलेगा।''

इतना कहने के बाद औघड़ महात्मा थोड़ी देर के लिये शान्त हो गया एवं फिर बोला कि आप आये हैं तो कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। उसने कहा कि आज तो रात्रि हो गई है कल प्रातः काल आइये, मैं आप के साथ फूलचन्द के घर चलूँगा। आदरणीय हमारे गुरुभाई ने कहा कि बाबा जी! कल गुरु पूर्णिमा का पर्व है, अतः अपने आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान की विधिवत् आरती पूजा से निवृत होने के बाद ही मैं आप के यहाँ की यात्रा आरम्भ करूँगा। इनकी बातों को सप्रेम सुनने के बाद और उनका चिन्तन करने के बाद उस औघड़ महात्मा ने कहा कि धन्य है तुम्हारी गुरुभक्ति और धन्य है सर्व समर्थ आप के योगी सम्राट। हमारे आदरणीय गुरुभाई की बातों को सप्रेम सुनने के बाद, वह औघड़ सिद्ध महात्मा काफी देर तक आँखे बन्द कर ध्यानस्थ रहा एवं उसके बाद जब उसने अपनी आँखे खोली, तो प्रसन्न मन से अश्रुपूरित नेत्रों से उपरोक्त बातें हमारे आदरणीय गुरुभाई से कही थी। उसके बाद उस औघड़ महात्मा ने कहा कि कल जब भी आयेंगे, मैं फूलचन्द के यहाँ चलने के लिये तैयार बैठा मिलूँगा। अगले दिन अपने मकान पर आराध्यदेव योगेश्वर द्वय के दिव्य स्वरूपों का खूब विधि–विधान से आरती पूजन करने के बाद श्री दिव्य स्वरूपों के अनेकानेक व्यजनों का भोग लगाया, स्वयं परिवार के लोगों के साथ ग्रहण किये एवं उसके बाद करीब साढ़े दस बजे श्री राजेश्वर बाबू के घर गये, जहाँ औघड़ सिद्ध महात्मा विराजमान थे। वे करीब साढ़े ग्यारह बजे श्री औघड़ बाबा के घर निवास स्थान पर पहुँच गये। उचित अभिवादन के बाद, उस महात्मा के साथ आदरणीय गुरुभाई जी घर से निकल कर आये एवं अपने दामाद के घर तक जाने एवं आने का रिक्सा तय करके उस पर सवार हो गये। करीब एक घंटे की यात्रा के बाद दो साधक (औघड़ महात्मा के साथ हमारे भाई जी) श्री फूलचन्द जी के घर पहुँच गये। वहाँ, वह औघड़ घर के बाहर जो चौकी थी उस पर आसन लगाकर बैठा तो,वही काफी देर तक बैठा रहा। आराध्यदेव के आत्मेश अपने गुरुभाई बहनों से एक रहस्य की बात बताना अपना कर्तव्य समझते हुये यह स्पष्ट करना है कि हमारे आदरणीय गुरुभाई जी जब औघड़ के साथ रिक्शे से श्री फूलचन्द जी के घर की यात्रा आरम्भ किये, उसी समय उस औघड़ की वाणी थी कि आप तो यह कार्य ऐसे (उसने अपने दाहिने हाथ से जल्दी–जल्दी तीन बार चुटकी बजाते हुये) कर सकते थे। मुझे आप की आन्तरिक शक्ति का आभास है और दुनियाँ का कोई भी कार्य आप के लिये असम्भव नहीं है। आप कोई भी कार्य करने की ताकत रखते हैं, यह हकीकत है।

श्री औघड़ सिद्ध महात्मा आदरणीय गुरुभाई जी के अन्दर विद्यमान आराध्यदेव के अतुलनीय आध्यात्मिक प्रकाश को स्पष्ट देख रहा था। यही कारण था कि वह हमारे आदरणीय भाई जी का इतना मान–सम्मान कर रहा था। उसने फिर कहा कि आप यह स्पष्ट करें कि यह कार्य आप स्वयं क्यों नहीं करना चाहते। उस औघड़ सिद्ध महात्मा की बातों का उत्तर हमारे आदरणीय भाई जी ने देते हुए कहा, ''महात्मन! यह परा सम्पदा आराध्यदेव की धरोहर है एवं इसे रंचमात्र भी खर्च करने का अधिकारण हमें प्राप्त नहीं है। साथ ही मैं अनाधिकृत रूप से इसे

प्रयोग नहीं करना चाहता क्योंकि यह कार्य मर्यादा रहित है।"

आदरणीय भाई जी की बात सुनकर, उस औघड़ सिद्ध महात्मा ने कहा कि योगेश्वर के शिष्य को ऐसा ही होना चाहिये और मेरा मन आप की बात सुनकर काफी प्रसन्न है। चलिये जल्दी आप के दामाद को स्वस्थ कर दिया जाये।

श्री फूलचन्द जी के घर के बाहर बैठकर औघड़ ने कहा कि मैं जो–जो सामान नोट करवा रहा हूँ, उसे आप अपने पैसे से लेकर आइये। करीब पाँच सौ रूपये का हवन एवं यज्ञ का सामान लेकर आदरणीय भाई जी जब आ गये तो वह उनके साथ घर में प्रवेश किया। लगभग दस फीट जमीन गौ के गोबर से लिपवाय एवं उसके सूख जाने पर एक स्थान पर बैठकर हवन एवं महामाया का अपनी विधि अनुसार करीब दो घंटे तक हवन एवं मंत्र जाप किया। उसके बाद दक्षिणा के रूप में श्री फूलचन्द का पैसा स्वीकार किया। एवं कहा कि तुम्हारा रोग आज से ही कम होना आरम्भ हो जायेगा एवं तुम पन्द्रह दिन के बाद पूर्ण रोग रहित हो जाओगे। यथार्थ भी ऐसा ही हुआ एवं आदरणीय गुरुभाई जी के दामाद श्री फूलचन्द जी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गये।

हमारे मिरजापुर जनपद के गुरु–भाई बहनो द्वारा महिने के प्रत्येक रविवार को सामूहिक सत्संग का कार्यक्रम किया जाता है और यह सामूहिक सतसंग का कार्य प्रत्येक रविवार को अलग–अलग गुरुभाई–बहनों के यहाँ किया जाता है एवं आराध्यदेव की इस क्षेत्र पर सूक्ष्म एवं स्थूल कृपायें भी खूब हो रही है। होनी भी चाहिये। भगवान की वाणी है:–

नाहं वसामि बैकुन्ठे, योगिराज ह्रदयेन च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्रैव तिष्ठामि नारद।।

□ स्वामी पुरुषोत्तम तीर्थ

सिद्धयोग

एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने देवादिदेव महादेव से प्रश्न किया –

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर।।
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद।।

(योगशिखोपनिषद् 1/1–2)

'हे शंकर! सब जीव सुख–दुःखरूप मायाजाल से घिरे हुए हैं। हे देव! कृपया मुझसे यह कहिये कि मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। ऐसा एक उपाय बतलाइये जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाये और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का नाश हो जाये।'

इसके उत्तर में भगवान महादेव ने विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा से कहा–

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

(योगशिखोपनिषद् 1/3–4)

'हे पद्मसम्भव! कैवल्यरूप परम पद की प्राप्ति के अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायों से उसे प्राप्त करना सहज नहीं। एकमात्र सिद्धिमार्ग के द्वारा ही कैवल्य–पद आसानी से प्राप्त होता है। अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त होता।' कैवल्य–प्राप्ति ही मानव–जीवन का उद्देश्य है। कैवल्य–मुक्ति होने पर ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति न होने को ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होने पर जीव को पुनः जन्म–मृत्यु–जरा–व्याधिजनित दुःख नहीं भोग करना पड़ता। इसे प्राप्त करने का सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है।

यह सिद्धिमार्ग क्या है, यहाँ इस बात का विशदरूप से वर्णन करना आवश्यक है। जिस पथ से बिना कष्ट के योग प्राप्त होता है, उसी पथ को सिद्धिमार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि प्राप्त करने का पथ सुषुम्ना नाड़ी है; जब इस नाड़ी से प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में आकर स्थित होता है तब साधक को जीव–ब्रह्मैक्य–ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्ति का संचार होने पर कुण्डलिनी–शक्ति जागरित होती है; और उसके बाद क्रमोन्नति के द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें बरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि किसी चीज को परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता,

केवल दाता की कृपा से ही उसके घर में तैयार अन्न से ही तुम्हारी क्षुधा शान्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगों की आधारस्वरूपा मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी–शक्ति को जागरित करने के लिए योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढंग से अनुष्ठान करने की जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्ति के प्रभाव से ही कुण्डलिनी–शक्ति के जागरित हो जाने से स्वाभाविक रूप में योगमार्ग प्राप्त हो जाता है। इसी को 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वाभाव से जो होता है, वही वास्तव में सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभिक भेद से योगपथ दो प्रकार का है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विघ्नसंकुल है। स्वाभाविक से विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावत: होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है, तथा उसमें किसी तरह की विपत्ति की भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावत: हमें निद्रा, क्षुधा और मलमूत्रादि का वेग होता है तब सोजाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देने से शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु निद्रा की इच्छा न मालूम होने पर भी जबर्दस्ती सो रहने से सुषुप्ति के स्थान में स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता का अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोष के कारण शरीर में रोग होने की सम्भावना रहती है। भूख न रहने पर भोजन करने से वह उतना रूचिकर भी नहीं मालूम होता। मल का वेग नहीं हुआ, फिर भी काँखकर मल त्याग किया, इससे भविष्य में गुह्य रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है; किन्तु वेग होने के बाद मल त्याग करने पर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्त:करण में स्वाभाविकरूप से आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करने की इच्छा होने पर और उसके अनुसार क्रिया करने पर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभाव से ही जो हो जाता है, उसमें बाधा डालने पर बल्कि अनिष्ट की सम्भावना रहती है। जैसे, शोक में जिस समय रूलाई आती है, उस समय उसमें बाधा उपस्थित होने पर हृदय में भयानक चोट लगती है, किन्तु रो लेने पर शरीर और मन हल्का मालूम होता है। मल–मूत्रादि का वेग होने पर उसे रोक लेने से दु:ख होता है और रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है; किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्ति के प्रभाव से स्वभावत: जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकार से अंगसञ्चालन आदि करने की इच्छा होती है, उसमें उस समय बाधा डालने पर मानसिक अशान्ति मालूम होती है और शरीर को भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह वायु, पित्त और कफ इन तीनों के स्वभाव में विषमता होने पर वैद्य के पास जाना पड़ता है और वैद्य के बतलाये हुए औषध, पथ्य का व्यवहार करके स्वभाव की सहायता करने पर शरीर स्वभावत: ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्‌गुरु की कृपा से शक्तिसञ्चार के द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होने पर एक मात्र गुरुपदिष्ट मन्त्रजप या ध्यान के द्वारा ही स्वभावत: आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिए विशेष परिश्रम करने या चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरुसे इन सब आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि का स्वतन्त्ररूप से उपदेश लेने की भी जरूरत नहीं होती।

इसी पथ से क्रमश: अग्रसर होते–होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपाय से स्वभावत: योगाङ्गादि साधनक्रम से जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान अथवा अखण्ड–चैतन्यानुभूति होती है और इसी को सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त होने पर ही सम्भव है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

जड़ी–बूटी चिकित्सा : युग की आवश्यकता

पं. लीलापत शर्मा

एक बार ब्रह्मा जी ने जीवक ऋषि को आदेश दिया कि पृथ्वी पर जो पत्ता पौधा, वृक्ष, वनस्पति व्यर्थ दिखे, तोड़ लाओ। ग्यारह वर्ष तक पृथ्वी पर घूमते रहने के बाद ऋषिवर लौटे और ब्रह्मा जी के समक्ष नतमस्तक होकर बोले– प्रभो! इन ग्यारह वर्षों में पूरी पृथ्वी पर भटका हूं, प्रत्येक पौधे के गुण–दोष को परखा, पृथ्वी पर एक भी ऐसा वृक्ष नहीं मिला जो किसी न किसी व्याधि के उन्मूलन में सहायक न हो। इस उदाहरण से वृक्ष, वनस्पतियों की औषधीय गुणवत्ता का भान होता है।

आज सभ्यता की घुड़दौड़ आपाधापी में मनुष्य को स्वास्थ्य के विषय में इस सीमा तक परावलंबी बना दिया है कि वह प्राकृतिक जीवन क्रम भी भुला बैठा है। फलतः आए दिन रोग–शोकों के विग्रह खड़े होते रहते हैं व छोटी–छोटी व्याधियों के नाम पर अनापशनाप धन नष्ट होता रहता है। मनुष्य अंदर से खोखला होता चला जा रहा है। जीवनी शक्ति का चारों ओर अभाव नजर आता है। आहार–विहार में समाविष्ट कृत्रिमता ने जिस प्रकार जिस सीमा तक शरीर के अंग अवयवों को अपंग और असमर्थ बनाया, उसी प्रकार चिकित्सा क्रम भी बनते चले गए। पूर्वकाल में आयुर्वेद ही स्वास्थ्य संरक्षण का एकमात्र माध्यम था। धीरे–धीरे बृहत्तर भारत में समाविष्ट अन्य संस्कृतियों के साथ अन्य पद्धतियां भी आई और आज चिकित्सा के नाम पर ढेरों पद्धतियां प्रयुक्त होती हैं। इसे दुर्योग ही कहेंगे कि आयुर्वेद जैसी विशुद्ध चिकित्सा प्रणाली पर भी गत दशाब्दियों में वज्रपात हुआ है। इसे भी आधुनिक बनाने की ललक में आतुर गिने चुने विद्वानों ने इसकी उपयोगिता और भी कम कर दी है। आज जहां आयुर्वेद के योगों पर से लोगों का विश्वास घटता चला जा रहा है, वहीं तुरंत ठीक होने की आवेशपूर्वर्ण जल्दबाजी ने उन्हें ऐलोपैथी का गुलाम बना दिया है। अनेक प्रकार की पद्धतियां प्रचलित होते हुए भी चारों ओर से एक ही मांग है कि वैकल्पिक चिकित्सा प्रणाली खोज निकाली जाए, मानवता को स्वास्थ्य संकट से मुक्ति दिलाई जाए।

यह विडंबना ही है कि जिन वनौषधियों के प्रयोग के कारण भारतवर्ष की विशिष्टता एवं संपन्नता आंकी जाती थी, उनके प्रयोग को भारतवासी ही भुला बैठे थे। पश्चिम, जर्मनी, हंगारी, सोवियत रूस, इण्डोनेशिया, चीन, जापान देशों में जहां जड़ी–बूटियों से चिकित्सा पर अनुसंधान कार्य होकर सफल प्रयोग भी किए जा रहे है, वहां इस हरीतिमा संपदा की जानकारी सारे विश्व को देने वाले भारत के चिकित्सक मनीषी स्वयं पाश्चात्याभिमुखी होते चले जा रहे हैं। आयुर्वेद, वनौषधि संपदा की गरिमा भुला देने का कारण यदि खोजा जाए तो इसे मात्र बौद्धिक परावलंबन ही कहा जाएगा। वैक्सीन, मारक, एण्टीबायोटिक्स, रेडीएशन, तथाकथित स्वास्थ्य

सवर्धक विटामिन, हारमोन के घातक दुष्परिणामों पर सभी विचारशीलों ने गहराई से सोचा है। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यदि कोई निरापद जीवनी शक्ति संवर्धक औषधियां हो सकती हैं तो वे मात्र प्राकृतिक रूप में पाई जाने वाली वनौषधियां ही हैं। आहार–विहार के सामान्य नियमों का पालन करते हुए श्रम या व्यायाम को जीवन में स्थान देते हुए मनुष्य सहज ही अपने अंतःकरण की सामर्थ्य को बढ़ा व प्रखर बना सकता है। यदि आधि–व्याधियों से रोकथाम हेतु आवश्यकता आ ही पड़े तो चारों ओर सहज ही उपलब्ध वनौषधियों से वह अपनी चिकित्सा भी करता रह सकता है। यह पद्धति हानि रहित तो है ही, आर्थिक दृष्टि से भी हमारे जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए एक मात्र अवलंबन भी है।

शरीर का धर्म है अपनी रक्षा के लिए व्यवस्था बनाना। जीवनी शक्ति के रूप में उसे एक सुरक्षा संस्थान मिला हुआ है। रक्त के श्वेत कण एवं इम्यून संस्थान सुरक्षा सेना, सीमा आरक्षी बल का काम करते हैं। बाह्य आक्रमणकारी जीवाणु विषाणु पहले मानव शरीर में सुरक्षा शक्ति की कमजोरी का जायजा लेते हैं। उनकी घातक सामर्थ्य में वृद्धि शरीर की कमजोरी के साथ बढ़ती जाती है एवं शरीर रोगी होता जाता है। रोग से निवृत्ति भी इस पर निर्भर करती है कि कितना शीघ्र विकृत द्रव्यों का निष्कासन होता है। गुर्दे छलनी की तरह रक्त में से विजातीय द्रव्यों को निकाल कर मूत्र के रूप में बाहर फेंकते हैं। यही गुर्दे जब रोगग्रस्त हो जाते हैं तब सारा विजातीय द्रव्य शरीर में एकत्र होता चला जाता है। ऐसे व्यक्ति जीवित लाश की तरह अपनी यात्रा खींचते हैं, न वे श्वांस ले पाते हैं न खाना ठीक से खा पाते हैं। बाह्य जीवाणु, विषाणुओं के घातक प्रभाव उन्हें शीघ्र मृत्यु के मुख में ले जाता है। अपाचन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विकार द्रव्य जब एकत्र होते चले जाते हैं, आहार विहार में व्यतिक्रम आ जाता है। प्रकृति के अनुकूल दिनचर्या का निर्धारण नहीं हो पाता है तो रोगों की बाढ़ सी आ जाती है।

इस मूल आधार को समझने के बाद चिकित्सा व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित कर सकना संभव है। किसी भी लक्षण को दबाने के बजाय उसे जन्म देने वाले कारण को जड़ से मिटाना ही श्रेयस्कर है। तुरंत लाभ की दृष्टि से तो यही उचित लगता है कि दृष्टिगत लक्षण को मिटा दिया जाए। गंदगी पर मिट्टी डालने से वह आंखों से ओझल तो हो सकती है पर नष्ट नहीं होती। दर्द को वेदना नाशक औषधियों से उस समय तो मिटाया जा सकता है, लेकिन मूल रूप में बैठे रोग को यदि समूल नष्ट नहीं किया गया तो वह नए रूप में अधिक तीव्रता के साथ उभर कर आ सकता है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि चिकित्सा पद्धति के अंतराल में छिपे अंधविश्वास को जड़ से निकाल फेंक कर अब जनमानस को अपनी दृष्टि का परिमार्जन करना ही चाहिए। जो श्रेष्ठ है वह तो ग्राह्य है पर सामयिक लाभ का दर्शन किसी भी मूल्य पर जीवन में नहीं उतारा जा सकता।

जहां तक सिद्धांतों, रोग निदान परीक्षण का सवाल है, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को धन्यवाद दिया जाना चाहिए और उसकी उपलब्धियों की प्रशंसा भी की जानी चाहिए। उपचार पक्ष से असहमत होते हुए अब आवश्यकता आ पड़ी है कि जड़ी–बूटियों के द्वारा उपचार पद्धति

...जीवन किया जाए। इनके उपयोग का विज्ञान सम्मत ढंग जनमानस को समझाया व हृदयंगम कराया जाए। वनस्पतियों का विशाल जगत हमें प्राकृतिक जीवन क्रम को अपनाने हेतु सतत प्रेरित, आमंत्रित करता है। आवश्यकता उनका मह...
वनस्पति जगत के...

का पुनर्जीवन किया जाए। इनके उपयोग का विज्ञान सम्मत ढंग जनमानस को समझाया व हृदयंगम कराया जाए। वनस्पतियों का विशाल जगत हमें प्राकृतिक जीवन क्रम को अपनाने हेतु सतत प्रेरित, आमंत्रित करता है। आवश्यकता उनका महत्व समझने भर की है।

वनस्पति जगत के कई भेद हैं। एक वे जलाने, खाद या उपकरण बनाने के काम आती हैं। दूसरी वे जिन्हें खाकर प्राणी अपना गुजारा करते हैं, मनुष्यों से लेकर पशुपक्षी वर्ग के जीवधारी इसी श्रेणी में आते हैं। किसी पत्ती, किसी कंदमूल, किसी बीज अनुकूल पड़ते हैं, यह रुचि विशेष की बात है। यह सभी वर्ग वनस्पतियों के ही हैं। तीसरा वर्ग औषधियों का है वे घास-पात जैसी दिखती तो हैं पर अपने विशेष गुण के कारण रोग निवारण आरोग्य वर्धन एवं परिशोधन के काम आती हैं। चिकित्सा जगत में इन्हीं की प्रमुखता है। यों उसमें खनिज एवं विषों का रूपांतरण भी सम्मिलित हो गया है, किंतु बाहुल्य चिकित्सा क्षेत्र में वनस्पतियों का ही है। उन्हीं को चूर्ण, सत्व, गोली, अवलेह, अर्क, आसव आदि के रूप में एकाकी अथवा सम्मिश्रणों के साथ प्रयोग किया जाता है। यह वनस्पति का औषधि पक्ष है। विधाता द्वारा मनुष्यों को दिए गए अनेक उपहारों में वनौषधियों को भी एक ऐसा ही वरदान कहा जा सकता है। जिसने शारीरिक व्याधियों और मानसिक व्याधियों के निवारण में देवताओं जैसे अनुग्रह प्रस्तुत किए हैं।

आहार एवं औषधीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने वाली वनस्पतियां अपने आप में पूर्ण हैं। उनमें से प्रत्येक की संरचना अनेक यौगिकों, क्षारों रसायनों और खनिजों के सम्मिश्रण से हुई है।

प्राणियों की आदतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि वे जिस वनस्पति वर्ग पर निर्भर हैं, उतने से ही अपना काम चला लेते हैं। अनेक सम्मिश्रणों की फिराक में नहीं फिरते। गाय, घोड़ा, वर्ग के प्राणी घास पसंद करते हैं। ऊंट, बकरी जैसे पत्तों के सहारे निर्वाह करते हैं। बंदर को फल पसंद हैं तो चिड़िया को बीज अच्छे लगते हैं। इनमें हर एक को कई-कई वनस्पतियों की तो छूट है कि एक के न मिलने पर दूसरे के सहारे काम चल सके पर ऐसा नहीं होता कि कोई जब भी कुछ खाए तो कई-कई को खोज कर उनकी चटनी बनाए, तब कहीं उन्हें गले उतारे।

शास्त्रोक्त एकौषधि पद्धति को अब नए सिरे से पुनर्जीवन देना होगा। आयुर्वेद के कर्णधारों ने एक रोग में एक समय में एक ही जड़ी बूटी देने का नियम निर्धारित किया था। सम्मिश्रणों की बात तो बहुत बाद में सूझी। जड़ी बूटियों की संख्या अनगिनत है। इतने पर भी गुण धर्म के हिसाब से उनके वर्ग अधिक नहीं हैं। शुभारंभ की दृष्टि से यही सुविधाजनक पड़ेगा कि जो औषधियां सर्वत्र उगती हैं उनमें से एक का सीमित संख्या में इस प्रकार चुनाव किया जाय कि उसमें रोग निवारण के लिए आवश्यक सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हो सके।

(विभूति फीचर्स से साभार)

फरवरी-मार्च 2(
37

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः ... ब्रह्म–चिन्तन

ओंकार रूप में ब्रह्म–चिन्तन

श्री बालमुकुन्द

सृष्टि का मूलभूत रहस्य उस परमात्मा तत्त्व में निहित है, जिसे समस्त भारतीय चिन्तन वाचक रूप में ओंकार या प्रणव नाम से अभिहित करता है। इस प्रकार यदि ओंकार या प्रणव शब्द वाचक है तो ईश्वर उसका वाच्यार्थ। तत्त्वतः दोनों में कोई अंतर नहीं है। वाचक ही वाच्यार्थ का बोध कराता है। पातंजल योगदर्शन में ॐ को ईश्वर का ही बोधक माना गया है–

तस्य वाचकः प्रणवः।

–समाधिपाद, सूत्र 27

इस प्रकार प्रणव ईश्वर रूप है। ओंकार एक ध्वनि है, जिसका सम्बन्ध हमारे अन्तःकरण सेहै, अर्थात् इस ध्वनि की अनुभूति अन्तःकरण में ही की जा सकती है।

ओउम् का वाच्यार्थ ईश्वर क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असंपृक्त अन्य पुरुषों से विशेष चेतन है–

क्लेशकर्म विपाकशयैरपरापृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

–समाधिपाद सूत्र 24

यह इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ है। उच्चरित प्रणव मंत्र तीन अक्षरों वाला है अ, उ और म। इन तीनों अक्षरों में तमस् रजस् और सत्त्व रूप में त्रिगुणात्मक प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् सहित तथा सर्व शक्तिमान परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट, हिरण्य गर्भ और ईश्वर रूप से अथवा सृष्टि के सृजन, सिंचन और संहार की अपेक्षा से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप से विद्यमान है।

मुण्डकोपनिषद में प्रणव (ओंकार) को धनुष की संज्ञा दी गयी है। आत्मा बाण के सदृश है और ब्रह्म का भेदन किया जाना चाहिए–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं, शरवत्तन्मयो भवेत्।।

– खण्ड 2/4

अविद्या रूपी अन्धकार के पार जाने के लिए और ब्रह्म–स्वरूप प्राप्ति के लिए ओंकार का अवलम्बन लेकर ध्यान करना चाहिए। ओउम् के रूप आत्मा का ध्यान करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह आत्मा हृदयाकाश में स्थित है।अन्नमय शरीर में स्थित यह ओंकार प्राणमय और मनोमय कोशों की ओर ले जाने वाला है। हृदय–कमल ब्रह्मपुर है। चैतन्य रूप में हृदय–कमल में स्थित यह ब्रह्म सर्वदा अभिव्यक्त होता रहता है। हृदयाकाश में स्थित उस आत्मा को विवेकी पुरुष गुरु की कृपा से ही जान सकते हैं। कार्य–कारण रूप ब्रह्म का

ष गुरु की कृपा से ... 38 फरवरी–मार्च 2022 सिद्धयो

साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। कर्म क्षीण हो जाते हैं। अविद्या और वासना से युक्त ग्रन्थि छूट जाती है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छि- द्यन्ते सर्व संशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

– मुण्डकोपनिषद 2/8

वह ज्योतिर्मय ब्रह्म परम कोश में वर्तमान है। उसे विवेकीजन ही समझ पाते हैं। उस आत्म स्वरूप ब्रह्म में न तो सूर्य प्रकाशित होता और न तो चन्द्रमा या तारे। विद्युत की चमक भी वहां दृष्टिगत नहीं होती। सभी प्रकाशमयी वस्तुयें उसी के द्वारा प्रकाशित होती हैं–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं,

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्या भासा सर्वमिदं विभाति।।

–मुण्डकोपनिषद 2/10

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं– ओऽम्, तत्, सत्– ये तीन सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के नाम हैं। इन्हीं के द्वारा सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिकों की रचना हुई–

ॐ तत्सदिति निर्देशो,ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः।

ब्रह्मणास्तेन वेदाश्च,यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।

– गीता 27/23

भगवान श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं– वेदज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों की यज्ञादि क्रियायें सदा ओउम् ऐसे परमात्माके नाम उच्चारण से ही प्रारम्भ होती हैं। कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष यज्ञ, तप, दानादि क्रियायें तत् नाम कहे जाने वाले परमात्मा को ही सब कुछ समझ कर उन्हें ही सौंपकर करते हैं। श्रेष्ठ भाव (सत्य भाव) में परमात्मा का सत् नाम प्रयुक्त होता है। परमात्मा के लिए किया गया यज्ञ, दानादि कर्म भी सत् है–

तदित्यनभि संधाय,फलंयज्ञ तपः क्रियाः।

दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।

– गीता 17/25–26

मांडूक्योपनिषद में ओंकार की तीन तेजस और प्राज्ञ रूप में वर्णन किया गया है। ये वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर से जुड़े हुए हैं। इनकी अभिव्यक्त अवस्थाओं का नाम जाग्रत,

स्वप्न और सुषुप्ति है। विश्व दक्षिण नेत्र में रहता है। यही जीव की जाग्रत अवस्था है। मन के भीतर तैजस का निवास है। यह स्वप्न की अवस्था है। हृदयाकाश में प्राज्ञ का निवास है। यही सुषुप्ति की अवस्था है। इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द हैं–

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो, मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञ–स्त्रिधा देहे व्यवस्थितः।।
–मांडूक्योपनिषद, आगम प्रकरण–2

परमार्थ तत्त्व ओंकार के चतुर्थ पाद अमात्र में स्थित रहता है। यह तुरीयात्म रूप में वर्तमान है, जो नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप और सर्वात्मा है। विश्व और तेजस स्वप्न और निद्रा के वशीभूत होते हैं, प्राज्ञ स्वप्न रहित निद्रा से युक्त है। तुरीयावस्था में निद्रा और स्वप्न दोनों का अभाव हो जाता है। निश्चित पुरुष या ब्रह्मवेत्ता ही इस स्थिति को प्राप्त करता है–

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ,प्राज्ञस्त्व स्वप्ननिद्रया।

ओउम् का मानसिक जप ईश्वर प्रणिधान है सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। जब चित्त को सब ओर से निवृत्त करके उसे केवल ईश्वर में स्थिर करदेते हैं तो उसे भावना की संज्ञा देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं वेद सच्चिदानन्दधन रूप परम पद को ओंकार नाम से अभिहित करते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों से पृथक कर मन को हृदय–प्रदेश में स्थिर करके प्राण को मस्तक में स्थापित करके योगस्थ पुरुष ॐ इस एकमात्र अक्षर रूप ब्रह्म काउच्चारण करता हुआ, उसके अर्थ स्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ, शरीर का परित्याग करता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त करता है–

सर्व द्वाराणि संयम्य, मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः,प्राणमास्थितो यो धारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन।
यः प्रयाति त्यजन्देहं, स याति परमां गतिम्।।

–गीता 8/12–13

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात'

—: स्वामी विवेकानन्द :—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात – विज्ञाता को कैसे जानोगे? ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता, तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। और यदि तुम आइने में अपनी आँखों का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आँखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा – यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो, तो इससे क्या हुआ? यह हमारी तरह न चल फिर सकता है, न जीता है, न संसार का संभोग कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षी स्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। "हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षी स्वरूप हो, इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो" – यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, "जो साक्षी स्वरूप है, वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकता है।" अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है तो अधिक आनन्द किन्हें मिलता है? – जो कुश्ती लड़ रहे हैं उन्हें या जो दर्शक है उन्हें?

इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षी स्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व ब्रह्मांड के साक्षी स्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षी स्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा–स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षी स्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दार्शनिक तथा नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं और व्याख्या करने में महीनों लग जाते हैं, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूँगा। इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है – और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम–रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही है, तरंगें विलीन हो जा सकती है; और तरंग में जो नाम रूप है, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायें, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, ुओं में और मनुष्यों में, देवताओं और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायें, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायेगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है। और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है, केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23

FEB-MARCH 2022

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

गुणों की महत्ता

मनुस्मृति के ऋषि ने कहा है कि यथार्थ ज्ञान सत्व गुण, प्रतिकूल ज्ञान तमोगुण और राग द्वेष रजोगुण कहलाता है। गुणों के कारण ही जीवात्मा को भिन्न–भिन्न योनियाँ मिलती हैं। जो व्यक्ति भर सत्व, रज तथा तम में से जिस गुण के कार्यों को करने में विशेष रुचि लेता है तथा जिस गुण के विषयों का चिन्तन व सेवन करता है उस व्यक्ति में अन्तिम अर्थात् मृत्यु के समय पर भी उसी गुण की प्रधानता होती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस व्यक्ति की मृत्यु सत्व गुण की वृद्धि में होती है वह उत्तम कार्य करने वालों के दिव्य लोकों में जाता है और जिसकी मृत्यु रजोगुण की वृद्धि में होती है वह कर्मों में आसक्त रहने वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है और जिसकी मृत्यु तमोगुण की वृद्धि में होती है वह पशु–पक्षी कीड़े मकोड़े आदि की मूढ़ योनियों में जाता है। जो मनुष्य इन गुणों को जीत लेता है, वह तो साक्षात् परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दयालाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दयालाल शर्मा